जनवरी 1986

# सोमसी

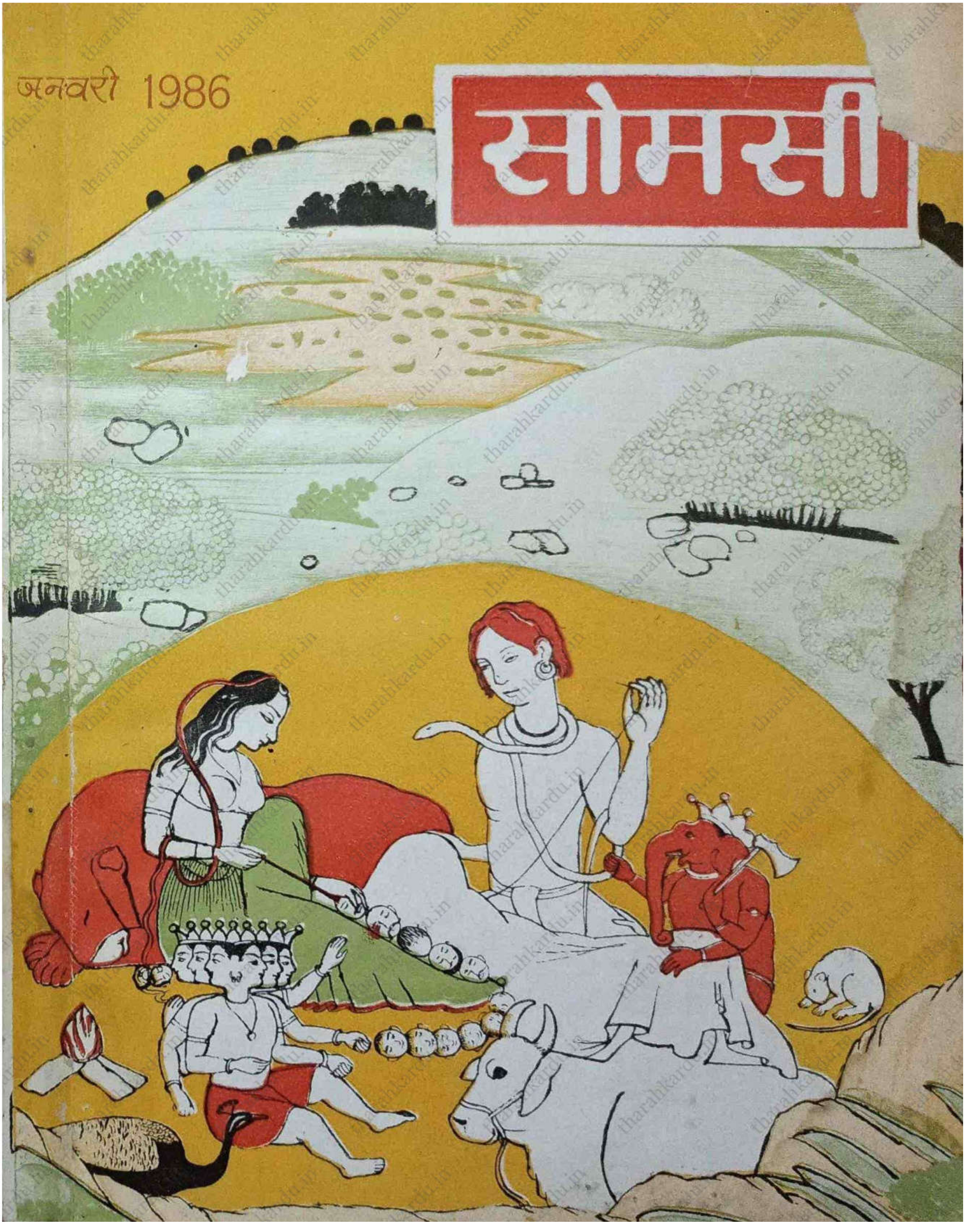

tharahkardu.in

# सोमसी

हिमाचल-कला, संस्कृति और भाषा अकादमी की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 12 जनवरी, 1986 अंक 1

सम्पादक

डॉ० बंशीराम शर्मा

सहायक सम्पादक

सरोज सांख्यायन

आवरण

ओम सुजानपुरी

45

जनवरी, अप्रैल, जुलाई व अक्तूबर में प्रकाश्य

लेखक द्वारा दिए गए तथ्यों तथा विचारों से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं।

वार्षिक सदस्यता शुल्क : 12.00 रुपए एक प्रति : 3.00 रुपए

हिमाचल-कला, संस्कृति और भाषा अकादमी

क्लिफ़ एण्ड एस्टेट, शिमला 171 001

## सोम्सी/जनवरी 1986

इस अंक में


| पृष्ठ | लेख | लेखक |
|---|---|---|
| १ | हिमाचल के हस्तलिखित ग्रंथों में चित्रांकन | डॉ० रामस्वरूप 'पल्लव' |
| १० | हिमाचल के आधुनिक ब्रज कवि | डॉ० मनोहर लाल |
| १७ | प्राचीन हिन्दू-मन्दिर : निर्माण विधान | सुरिन्द्र मोहन सेठी |
| २० | चम्बयाली लोक गीतों में रस-योजना | डॉ० विद्या चन्द ठाकुर |
| २५ | भूले बिसरे खेल मनोरंजन | नरेन्द्र अरुण |
| ३९ | बिलासपुर के लोकगीतों में समकालीन समस्याओं का चित्रण | डॉ श्रीराम शर्मा |
| ४८ | गुज्जर जन जाति व उनकी बोली | केशव चन्द्र |
| ५५ | आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान और तिब्बत का लामा धर्म | पी० एन० सेमवाल |
| ६१ | चम्बा केभरमौर क्षेत्र में सहयोगी प्रथाओं का प्रचलन | अमर सिंह रणपतिया |
| ६५ | लोक आस्था का प्रतीक डूघानाल् सिद्ध बाबा बालकनाथ | मोतीलाल घई |
| ७२ | लोकधर्मी नाट्य-परम्परा : महत्व व मूल्यांकन | अमिता शर्मा |
| ७९ | कुल्लवी जन-जीवन में प्रचलित संस्कार | दयानन्द सरस्वती |
| ८६ | हिमाचल प्रदेश में नाथ सम्प्रदाय | संसार चन्द 'प्रभाकर' |

# सम्पादकीय

सोमसी पत्रिका का समारम्भ जनवरी, 1975 में हुआ। पत्रिका के अब तक प्रकाशित अंक पर्वतीय क्षेत्र की सांस्कृतिक धरोहर को पाठकों तक पहुंचने में सफल रहे हैं और इन में प्रकाशित लेख इस बात के साक्षी हैं कि प्रदेश की सांस्कृति में ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जिनसे प्रागैतिहातिककालीन जीवनझांकियों की जानकारी सम्भव है। ये संकेत प्रच्छन्न हैं तथा एक स्थान की परम्पराओं का अध्ययन करके हम इन्हें खोज पाने में समर्थ नहीं हो सकते।

सोमसी पर्वतीय लोकसंस्कृति की शोध पत्रिका है। इसके प्रकाशन से अनुसन्धित्सुओं को अपने शोध ग्रन्थों के लिए सामग्री उपलब्ध हुई है परन्तु इसके स्तर में सन्तुलन बनाए रखना हमारे लिए कठिनाई का कार्य रहा है क्योंकि सभी लेखक शोधदृष्टि से युक्त नहीं होते और यदि शोधलेख के लिए सहायक सामग्री तथा किसी परम्परा के सम्यक् अध्ययन के लिए उपयुक्त वातावरण न हो तो यह कार्य कठिन हो जाता है।

मुद्रण की कठिनाइयों तथा अन्य कारणों से सोमसी का यह अंक आपके पास विलम्ब से पहुंच रहा है परन्तु इसमें सम्मिलित कुछ महत्वपूर्ण लेख आपसे इस विलम्ब के लिए क्षमादान प्रदान

करवाने में सहायक सिद्ध होंगे, ऐसी आशा है। भविष्य में सोमसी आपके पास निश्चित तिथि को पहुंच जाए इसके लिए हम तन मन से प्रयत्नशील हैं।

प्रस्तुत अंक में 'हिमाचल के हस्तलिखित ग्रन्थों में चित्रांकन,' 'हिमाचल प्रदेश के आधुनिक ब्रज कवि,' 'भूले बिसरे खेल मनोरंजन,' 'गुज्जर जन-जाति व उसकी बोली,' 'आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान और तिब्बत का लामाधर्म,' 'चम्बा के भरमौर क्षेत्र में सहयोगी-प्रथाओं का प्रचलन,' लोक धर्मी नाट्य-परम्परा: महत्व व मूल्यांकन' तथा 'हिमाचल प्रदेश में नाथ सम्प्रदाय' आदि अनेक लेख पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक होंगे, ऐसी आशा है। हमारा प्रयत्न रहेगा कि भविष्य में सोमसी के विशेषांक प्रकाशित किए जाएं। वर्ष 1987 के अक्तूबर मास का अंक 'लोक देव परम्परा विशेषांक' होगा, अतः विज्ञ पाठकों से इसके लिए सामग्री भेजने का आग्रह है। जुलाई, 1987 का अंक हम 'लोकनाट्य विशेषांक' के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं।

— बंशीराम शर्मा

# हिमाचल के हस्तलिखित ग्रन्थों में चित्रांकन

□ डॉ. रामस्वरूप 'पल्लव'

भारत में प्राचीन काल से ताड़पत्र या भोजपत्र पर चित्रांकन की एक विशेष परम्परा रही है। लगभग १२ वीं शताब्दी में हस्तनिर्मित कागज के आविष्कार से ग्रन्थ के लेखन-चित्रण में क्रान्ति हुई। ग्रन्थों को हस्तलिपि में अनेक संस्करण कर चित्रों द्वारा सुसज्जित करने की परम्परा मध्यकाल में विकसित हुई। ग्रन्थों में कथानक पर आधारित चित्र अंकित किये जाते थे। ये चित्र लघुचित्रों की अपेक्षा निम्न स्तर के होते हुए भी अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने में अवश्य ही सफल हुए हैं। पहाड़ी जनमानस के गौरवपूर्ण इतिहास, धार्मिक मनोवृत्ति और भक्ति की प्रेरणा से ही ऐसे ग्रन्थों का चित्रण हुआ। बसोहली, गुलेर, कांगड़ा, कुल्लू, मण्डी, नूरपुर, गढ़वाल आदि शैलियों में उपलब्ध सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थों में अपनी शैलीगत विशेषता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

पहाड़ी चित्रकला का मूलधार पहाड़ी प्रदेश में प्रचलित धार्मिक, शृंगारिक एवं लोक-प्रेम गाथाए रही हैं। जम्मू से गढ़वाल तक हिमालयी प्रदेश में यह विद्या उन्नीसवीं सदी के अन्त तक रही, जो सचित्र ग्रन्थों की परम्परा एवं विकास में महत्वपूर्ण शृंखला है। पहाड़ी क्षेत्र में सचित्र ग्रन्थों की परम्परा तो रही, लेकिन कम संख्या में ग्रन्थों का चित्रण उपलब्ध है। इसका मुख्य कारण कला पोषकों की रूचि लघु चित्र-शृंखला और भित्ति सज्जा में अधिक रही। इसके विपरीत राजस्थानी-मुगल शैली में अनेकों सचित्र ग्रन्थों का चित्रण हुआ। अनेक संग्रहालय सचित्र ग्रन्थों का अमूल्य भंडार हैं।

पहाड़ी हस्तलिखित ग्रन्थों की रचना के लिए सर्वोत्तम स्यालकोटी कागज का ही प्रयोग किया गया है। लेखन एवं चित्रण कार्य एक ही तह पर किया जाता था। कागज पर जहां-जहां चित्रण कार्य की आवश्यकता समझी जाती थी वहां उप्युक्त स्थान छोड़ दिया जाता था। प्रत्येक हस्तलिखित ग्रन्थ को चित्रित करने में अनेक लोगों का सहयोग रहता था। सर्वप्रथम विद्वान जो उस ग्रन्थ की विषय वस्तु

की रूपरेखा बनाकर मार्ग दर्शन करता। दूसरा लिपिकार जो शब्दों को कागज पर लिपिबद्ध करता। फिर मुख्य कार्य चित्रकार का रहता जो निर्देशित स्थान पर ग्रन्थ से सम्बन्धित विषयांकन करता। पहाड़ी सचित्र ग्रन्थों में अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं।

१ — ग्रन्थ के मध्य यत्र-तत्र चित्रण

२ — ग्रन्थ के एक ओर लेखन एवं सामने चित्रण

३ — ग्रन्थ के ऊपरी भाग पर लेखन नीचे चित्रांकन

४ — ग्रन्थ के दाएं-बाएं चित्रण तथा मध्य में लेखन

५ — अध्याय के अन्त में चित्रांकन

६ — ग्रन्थ के पृष्ठ के दोनों ओर चित्रांकन

पहाड़ी कला की विभिन्न शैलियों में सचित्र ग्रन्थ बसोहली, गुलेर, कांगड़ा, कुल्लू, मण्डी नूरपुर, गढवाल आदि शैलियों में उपलब्ध हैं इनमें से कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का शैलीगत वर्णन इस प्रकार है।

कुल्लू शैली में सचित्र ग्रन्थों को तैयार करवाने में राजा प्रीतम सिंह (१७६७-१८०६) और चित्रकार भगवान एवं उनकी शैली का बिशेष योगदान है। इस शैली में उपलब्ध तीन सचित्र ग्रन्थ निम्नलिखित हैं।

१ — सुन्दर शृंगार २ — मधु-मालती ३ — भागवत पुराण

**१ — सुन्दर शृंगार :—**

कुल्लू शैली में उपलब्ध सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थ अपनी प्राचीनता एवं टांकरी भाषा के कारण प्रसिद्ध है। चण्डीगढ़ संग्रहालय में सुरक्षित ग्रन्थ का आकार २०×१५ सें. मी. है। स्यालकोटी कागज द्वारा बने क्षैतिजाकार ग्रन्थ में ८० पृष्ठ हैं जिसमें ६४ चित्रों में शृंगारिक चित्रण है। इस ग्रन्थ के मूल लेखक सुन्दर दास जी हैं जो शाहजहां के दरबारी कवि थे। वे मुगल दरबार में 'कविराय' की पद्वी से सुशोभित रहे।

कुल्लू शैली में चित्रित यह ग्रन्थ सबसे प्राचीन है। जो संवत् १८५५ (१७८८ ई०) में चित्रित हुआ। इसी शैली से सम्बन्धित अन्य दो ग्रन्थ भागवत और मधु-मालती जो क्रमशः १७९४ और १७९९ ई० में चित्रित हुए। सुन्दर शृंगार की स्थानीय शैलीगत विशेषता जो अन्य परवर्ती

ग्रन्थों में दिखाई पड़ती है, यह लगभग एक दशक बाद भी परिवर्तन रहित रही। इस ग्रन्थ म चित्रकार का नामोल्लेख नहीं, फिर भी भगवान चित्रकार की शैलीगत विशेषताओं से परिपूर्ण ग्रन्थ में मानवाकृतियां तत्कालीन कुल्लू लघुचित्रों के समीप हैं।

## २ — मधु-मालती :—

कुल्लू शैली में चित्रित हस्तलिखित ग्रन्थ मधु-मालती के प्रेमाख्यान पर आधारित है। चतुर्भुज दास कृत्त ग्रन्थ 'मधु-मालती' कथा में नायक का नाम मधु तथा नायिका का नाम मालती मिलता है। राजा चन्द्रसेन की पुत्री मालती रूपवती सुन्दरी थी। उसी राज्य का मंत्री-पुत्र मधु भी अत्यन्त रूपवान था। एक दिन मालती ने मधु के रूप-सौन्दर्य से मोहित होकर अपना प्रणय निवेदन किया। मधु ने सामाजिक तथा जातीय भेद का स्मरण दिलाकर मालती को समझाया, लेकिन मालती ने सच्चे प्रेम के लिए मधु से आग्रह किया। प्रेम-पथ से हटने के लिए मधु ने अनेक उपाय किये, लेकिन मालती ने पीछा न छोड़ा और अन्त में मधु का प्रेम प्राप्त करने में सफल हो गयी। दोनों ने राम सरोवर के तट पर गन्धर्व विवाह कर लिया। इस प्रेम विवाह से राजा अप्रसन्न हुआ और मधु को मारने के लिए सेना भेजी। देवी-सहायता से मधु ने राजा की सेना को परास्त कर दिया। अन्त में मधु और मालती के पूर्व जन्म में कामदेव और रति होने की बात जानकर राजा ने पश्चाताप किया। मधु-मालती दोनों सुखमय जीवन व्यतीत करने लगे।

मधु-मालती की यह लोककथा इतनी लोकप्रिय रही है कि कुल्लू शैली में तीन शृंखला उक्त विषय पर आधारित रही हैं जो क्रमशः जगदीश मित्तल हैदराबाद, लतीफी संग्रह बम्बई और बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

## ३ — भागवत पुराण :—

राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में संग्रहीत भागवत पुराण विषय पर एक सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थ है। संवत १८५१ (१७९४ ई.) में रघुनाथपुर नामक स्थान पर राजा प्रीतम सिंह के लिए कुल्लू कलाकार भगवान द्वारा चित्रित किया गया। इस ग्रन्थ में चित्रित नारी आकृतियों की प्रेरणा स्थानीय गद्दी जन-जाति की प्रतीत होती है। लम्बी देह यष्टि वाली मुखाकृतियों पर एक सा भाव लिये चित्रित हुई हैं। इनकी चोलियां अंग्रेजी के वी ( V ) आकार के गले युक्त हैं। वस्त्रों पर बंदकीदार अलंकरण है। ओढनी को उल्टे पल्ले की साड़ी की भान्ति पहनाया है। प्रयुक्त रंगो में हरे, पीले हिरमिची लाल चटख रंगों का प्रयोग हुआ है। वृक्षांकन में चित्रकार भगवान की निजि शैली दिखाई पड़ती है। कहीं-२

कम आकृतियां और वृक्षों की अधिकता है। पतले एवं लचीले वृक्षों का अंकन पृष्ठभूमि की शोभा बढ़ाने के लिए ही किया गया है।

## रामचन्द्रिका :—

मण्डी शैली में हस्तलिखित ग्रन्थ का एकमात्र उदाहरण रामचन्दिका नामक सचित्र पुस्तक मण्डी नगर में श्री चन्द्रमणि कश्यप द्वारा स्थापित एवं संचालित "हिमाचल लोक संस्कृति संस्थान" के संग्रह में है जो आचार्य केशव दास के मूलग्रन्थ रामचन्द्रिका की हस्तलिखित तथा सचित्र कृति है जिसमें पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवे, छठे, नवें और ग्यारहवें अध्याय के अन्त में सम्बंधित विषयों पर आधारित चित्रों की रचना हुई है। छठे अध्याय के अन्त में राम विवाह विषयक चित्र रेखाचित्र के रूप में अधूरा रह गया है। अन्य अध्यायों के अन्त में कहीं कहीं खाली स्थान छोड़ दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी कारणवश ग्रन्थ चित्रण का कार्य अधूरा रह गया है। इस ग्रन्थ के चित्रों की विषयवस्तु निम्न प्रकार से हैं।

| | | |
|---|---|---|
| प्रथम अध्याय | — | विश्वामित्र का अवधपुरी में आगमन |
| द्वितीय अध्याय | — | दशरथ — वशिष्ठ संवाद |
| तृतीय अध्याय | — | सीता — स्वयंवर |
| चतुर्थ अध्याय | — | वाणासुर — रावण संवाद |
| पंचम अध्याय | — | धनुष भंग वर्णन |
| षष्टम अध्याय | — | राम-विवाह वर्णन |
| नवम अध्याय | — | राम का वन गमन |
| एकादश अध्याय | — | (अ) शूर्पणखा-राम संवाद |
| | | (ब) लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के नाक-कान काटना |

(विशेष विवरण के लिए देखिए, पहाड़ी चित्रकला : किशोरी लाल वैद्य, ओम चन्द हांडा, पृ. २५०-२५५, चित्र संख्या - ५४, ५५, ५६ और ५७)

रामचन्द्रिका के सभी चित्रों की आकृति-निरूपन जिस प्रकार की शैलीगत विशेषताओं को प्रकट करती है वे मुख्य रूप से १८ वीं शताब्दी के चतुर्थांश में बनी दरबारी कृतियों के समीप है। उदाहरण

स्वरूप राजा दशरथ की आकृति मण्डी राजा सूरमा सेन की आकृति से साम्य रखती है, जिसमें राजा के घुटने मोड़कर बैठना तत्कालीन प्रचलित पगड़ी तथा जामें की तिरछी बगली चाक निश्चय ही राजा सूरमा सेन (१७८१-१७८८ ई.) के समय में प्रचलित फैशन के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त लम्बे आकार के नेत्रों को भी इस काल में चित्रित किया गया। इसी तरह चित्रित नारी आकृतियों (सीता, सखी, दासी शूर्पणखा) के वस्त्रों में ओढ़नी पर तीन बिन्दुओं के त्रिकोण पैटरन (*Pattern*) तथा माथे, कान, गले एवं हाथों के आभूषण भी इसी समय के लघु-चित्रों में देखे जा सकते हैं।

१७९० ई. के लगभग इस सचित्र ग्रन्थ में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो कि दरबारी स्तर पर होते हुए लोक कला से अलग नहीं कर सकते। चित्रों में सपाट पृष्ठ भूमि दिखाई पड़ती है। अग्रभूमि (*Fore Ground*) में गलीचे के सफेद तल पर लम्बवत् समान्तर रेखाओं के अंकन में दर्शित अनगढ़ निरूढ़ता है। राम की कुटी का मेहराबी द्वार एवं सरल संयोजन भी स्पष्टत: लोक शैली की विशेषताओं को प्रकट करती है। मण्डी राज्य के इस काल में राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन सें अव्यवस्था एवं संकट की स्थिति बनी हुई थी जो की सचित्र ग्रन्थ के चित्रण-कार्य में बाधा मानी जा सकती है।

हिमाचल प्रदेश के राजकीय पुस्तकालय, सोलन में तीन सचित्र ग्रन्थ क्षतिग्रस्त अवस्था में १८ सितम्बर, १९८२ में सर्वप्रथम मुझे ही देखने का अवसर मिला। यह तीनों ग्रन्थ राजा दुर्गासिंह सोलन हिमाचल प्रदेश द्वारा उपहार स्वरूप दिये गए हैं। यह ग्रन्थ कांगड़ा शैली से सम्बन्धित है। शैलीगत आधार पर उक्त ग्रन्थ १८५० ई. के लगभग प्रतीत होता है। ११ × ७.५ से. मी. आकार के इस ग्रन्थ में तीन चित्र प्राप्त हुए हैं। ग्रन्थ के अनेक पृष्ठों को चित्रांकन हेतु छोड़ दिया गया है जो समयाभाव के कारण चित्र रहित दिखाई पड़ते हैं। श्री मद्भागवद्गीता पर आधारित इस ग्रन्थ के चित्रों की विषयवस्तु निम्नवत् है।

१. धृतराष्ट्र और संजय

२. विष्णु के पैर दबाती श्री लक्ष्मी

३. भीष्म पितामह शैय्या पर

१. श्री मद्भगवद्गीता के पृष्ठ संख्या १०१, १०२ के मध्य ९ × ५.५ से. मी. का आयताकार संयोजन समविभक्ति के आधार पर है। बायीं ओर धृतराष्ट्र के सामने संजय बैठा है। आयताकार फर्श नारंगी रंग से चित्रित किया गया है। पृष्ठभूमि में गहरा हरा और उपरी कोने के आयतों में नारंगी रंग का सपाट प्रयोग किया है। चित्र के चारों ओर बैंगनी बाडॅर पुष्प युक्त बेल सजा है।

२. पृष्ठ संख्या १८६, १६० के मध्य नीलवर्णी भगवान विष्णु को क्षीर सागर में शेषनाग पर लेटे दिखाया है। चार भुजायें जिनमें शंख, चक्र, गदा व कमल हैं। पीताम्बर पहने भगवान विष्णु के चरणों में लक्ष्मी पैर दबा रही है। नाभी से निकलता कमल जिस पर चतुर्भुजी ब्रह्मा बैठे हैं। पृष्ठभूमि में नारंगी, लाल, गहरा हरा रंग प्रयुक्त हुआ है। हाशिये पर स्वर्ण रंग का प्रयोग हुआ है। अग्रभाग में आयताकार क्षीर सागर कमल दलों से सुशोभित है।

३. ग्रन्थ का तीसरा और अन्तिम चित्र जिसमें भीष्म पितामह शर शैय्या पर लेटे हैं। चित्र में बांयी ओर अर्जुन नारंगी जामा पहने बाण से जल-धारा निकाल रहे हैं जो भीष्म के मुख की ओर आ रही है। श्री कृष्ण ने विष्णु रूप धारण किया है। विष्णु-वाहन के रूप में गरूड़ करबद्ध खड़े हैं। पृष्ठभूमि में गहरा हरा, नारंगी रंग का प्रयोग हुआ है।

**श्री मद्भागवद्गीता :-**

दशमोध्याय के बाद इस ग्रन्थ में 'विश्वरूप-दर्शन' एक मात्र चित्र है जो ग्रन्थ के मध्य चित्रित किया गया है। इस ग्रन्थ के लिपिकार नारायण दास कश्मीरी व रचनाकार आनन्द राम हैं। प्रस्तुत चित्र में अर्जुन ने अपने धनुषबाण श्री कृष्ण के चरणों में रख दिये हैं और हाथ जोड़कर युद्ध न करने के लिए श्री कृष्ण से प्रार्थना कर रहे हैं। श्री कृष्ण ने अपना विराट स्वरूप दिखाया जिसमें अस्त्र-शस्त्र सुसज्जित हैं। दस भुजाओं युक्त श्री कृष्ण का दिव्य रूप मनोहारी है। नीलवर्णी श्री कृष्ण को पीताम्बर पहने दर्शाया है। अस्त्र-शस्त्रों का रंग सुनहरा है। सभी मुख अलग अलग रंग से बनाये गये हैं और सभी ने मुकुट पहने हैं। अर्जुन बैंगनी जामा पहने हाथ जोड़कर खड़े हैं। पृष्ठभूमि गहरे नीले रंग की है। हाशिये पर बेल-बूटों की पुष्प सज्जा है जिस पर स्वर्ण रंग प्रयुक्त हुआ है। राजकीय पुस्तकालय, सोलन में संगृहित इस सचित्र ग्रन्थ में कलाकार की दक्षता लघुचित्रों के समीप है।

राजकीय पुस्तकालय सोलन, हिमाचल प्रदेश के संग्रह में तीसरा सचित्र ग्रन्थ "**गायत्री देवी**" पर आधारित है। १४८ पृष्ठों के ग्रन्थ में पांच चित्र बने हैं जो एक ही कलाकार द्वारा बनाये गए हैं। सभी चित्रों में पुनरावृत्ति का दोष है। सीमित रंगों द्वारा चित्रित विषयांकन लोक कला की ओर संकेत करता है। लोकजीवन में धार्मिक मनोवृति और भक्ति की सच्ची प्रेरणा से ही ऐसे ग्रन्थों को जन्म मिला जिसका उदाहरण यह ग्रन्थ है।

६/सोमसी, जनवरी १९८६

ग्रन्थ के प्रारम्भ में गायत्री देवी का चित्र है जिसमें कमलासन चतुर्भुज देवी अपने हाथों में तलवार, कमण्डल, माला और कमल लिए नीले गांव तकिये के सहारे नारंगी परिधान पहने बैठी है। बायीं ओर एक साधु नारंगी धोती पहने हाथ जोड़कर देवी के समक्ष खड़ा है। चित्र के चारों ओर नीला हाशिया जल्दबाजी को दर्शाता है।

इसी ग्रन्थ में पृष्ठ बाइस के बाद दूसरा चित्र बनाया है। इस चित्र के मध्य में देवी चतुर्भुजी है जिसे दायें-बायें दो साधु हाथ जोड़कर देवी-स्तुति कर रहे हैं। देवी के हाथों में तलवार, माला और कलश है। बांयी ओर का साधु नारंगी धोती पहने है। दायीं ओर पीली धोती पहने अल्पायु, बिना दाढ़ी वाला साधक है। पृष्ठभूमि में हरा रंग तथा अग्रभूमि में लाल रंग का प्रयोग है। रंग रेखाओं की दृष्टि से कोमलता का अभाव है।

पृष्ठ ४७ के बाद तीसरा चित्र बनाया गया है जिसमें कमलासन चतुर्भुजी देवी नारंगी लंहगा पहने, नीले गॉव तकिये के सहारे बैठी हैं। चारों हाथों में—तलवार, कलश, पुष्प, रुण्डमाल है। गले में सर्पों की माला है। माथे पर तीसरा नेत्र है देवी के बांयी ओर दाढ़ी युक्त साधु हाथ जोड़कर आसमानी नीले रंग की धोती पहने खड़ा है। देवी और साधक के शरीर को रंग से अछूता रखा है। पृष्ठभूमि में हरा और अग्रभूमि में लाल रंग का प्रयोग हुआ है।

पृष्ठ ६१ के बाद चौथे चित्र में देवी गुलाबी कमल पर नारंगी लंहगा पहने बैठी है। चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पुष्प हैं। देवी के शरीर पर हल्का नीला रंग प्रयुक्त हुआ है। चित्र के चारों ओर लाल हाशिया है। इस चित्र में भी एक साधु को हाथ जोड़े दिखाया है।

'पंचमुखी हंस सवार देवी' विषयक चित्र ग्रन्थ का अन्तिम चित्र है जो पृष्ठ १०४ के बाद चित्रित किया गया है। इस चित्र में बारह भुजाओं वाली देवी हंस पर कमलासन बैठी है। पंचमुखी देवी के सभी मुख त्रिनेत्रा दर्शाये गये हैं। मुखाकृति पर सफैद, नारंगी, हल्का नीला रंग प्रयोग हुआ है। शरीर का अधिकांश भाग रंगांकन से अछूता रखा है। देवी नारंगी लहंगा पहने है जिस पर सुनहरा कार्य है। साधु का शरीर भी बिना रंग का है जिसमें नारंगी धोती पहने हाथ जोड़कर खड़ा है। पृष्ठभूमि में हरा रंग व अग्रभाग में लाल रंग प्रयोग किया है। चारों ओर नीले रंग का हाशिया, जिसमें दुर्बल व कठोर रेखाओं का प्रयोग कलाकार की जल्दबाजी की ओर संकेत करती है। ग्रन्थ के अन्त में निम्न श्लोक है।

इति श्री गायत्री पटललं समाप्तम

॥ शुभ ॥

७/सोमसी, जनवरी १९८६

पहाड़ी चित्रशैली की प्राचीनतम कला-कृतियों म 'देवी महात्म्य' सचित्र पाण्डुलिपि प्रकाश में आयी है। प्रारम्भिक विश्लेषण के आधार पर यह कृति सोलहवीं शताब्दी के लगभग चित्रित की गयी। राजकीय संग्रहालय, शिमला में संग्रहित इस पाण्डुलिपि से यह उद्घाटित होता है कि मुगल-आगमन से पूर्व पश्चिमी हिमालय में चित्रकला की एक समृद्ध परम्परा रही है। इसके अतिरिक्त नृसिंह मन्दिर फतेहपुर, (नूरपुर) के महंत के पास कलाकार गोलू द्वारा चित्रित ग्रन्थ विशेष महत्व का है। बसोहली शैली में चित्रित 'करूणाभरण' सचित्र ग्रन्थ भारत कला भवन, बनारस में सुरक्षित है। गढ़वाल शैली का 'सौन्दर्य लहरी' ग्रन्थ जो संवत् १८७० भाद्रपद मास शुक्ल पक्ष में अलकनन्दा के किनारे तैयार किया गया। शैलीगत अध्ययन की दृष्टि से सचित्र ग्रन्थ लोक परम्परा के प्रभावानुकूल बने दिखायी पड़ते हैं। चित्रकारों ने शैलीगत विशेषताओं को ध्यान में रखकर चित्रण कार्य नहीं किया, जिसके फलस्वरूप शैलियों को पहचानने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वेशभूषा, आभूषणों, रंग तथा मुखाकृतियों की रचना-सहायता से ही विभिन्न शैलियों के चित्रों को अलग किया जा सकता है।

उपयुक्त अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि चित्रकला में अंकित तत्सम्बन्धी सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थ अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी हैं। क्योंकि इसी माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न, हिमाचल की सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति को जाना जा सकता है।

संदर्भ :—


१. पहाडी चित्रकला : किशोरी लाल वैद्य, ओम चन्द हाँडा (१९६९) दिल्ली,

२: आर्ट आफ हिमाचल : विश्वचन्द ओहरी, पृष्ठ १९६, चित्र-८१,

3. पहाड़ी मिनियेचर पेन्टिग : खण्डालावाला (१९५८) बम्बई,

४. इलस्ट्रेटिड मैनास्क्रिप्ट आफ मधु मालती : जगदीश मित्तल (लेख) ललित कला न० 3-४ (१९५६-५९) दिल्ली,

५. करुणाभरण : श्री गोपाल कृष्ण (लेख) कलानिधि, भारत कला भवन बनारस, वर्ष—१, अंक १

६. एन इलस्ट्रेटिड मैनास्क्रिप्ट आफ द सुन्दर शृंगार फ्रोम कुल्लू : डॉ. बी. एन. गोस्वामी (लेख) रुपलेखा वोल्यूम न. १ ऑर २,

७. इण्डियन पेन्टिग फ्राम द पंजाब हिल्स : आर्चर (१९७३) वोल्यूम–प्रथम, फिगर-३७, ३८,३९,

८. राष्ट्रीय संग्रहालय, जनपथ नई दिल्ली

९. हिमाचल राज्य पुस्तकालय सोलन, हि. प्रदेश

१०. राजकीय संग्रहालय, शिमला, हि. प्रदेश

११. भारत कला भवन, बनारस,

१४/१४३८, किशनपुरा
पुल जोगियान
सहारनपुर

६/सोमसी, जनवरी १९८६

# हिमाचल प्रदेश के आधुनिक ब्रज कवि

□ डॉ० मनोहर लाल

ब्रजभाषा-साहित्य की परम्परा बड़ी विशाल है। मध्य युग में, देश के दूर-दूर के जिन अंचलों के राज दरबारों में, ब्रजभाषा भारत की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकता को प्रगाढ़ बना रही थी, उनमें हिमाचल प्रदेश के गुलेर, तथा बिलासपुर दरबार भी किसी बात में पीछे नहीं थे। इन राज-दरबारों में रचित तथा उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों से पता चलता है कि स्थानीय कवियों के बीच 'रामचरितमानस', 'रामचंद्रिका', 'रसिकप्रिया' तथा 'बिहारी-सतसई', पर्याप्त लोकप्रिय थीं। और क्योंकि हिमाचल की घाटियों में कांगड़ा-चित्रकला का विकास हो रहा था, इसलिए इस चित्रकला के उपजीव्य ग्रन्थों की दृष्टि से ब्रजभाषा का महत्व और भी बढ़ गया था। यही कारण था कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास की धारा को पृथुल बनाने के लिए स्थानीय कवि, स्थानीय बोलियों के शब्द-भण्डार की चाशनी लगाकर, ब्रजभाषा में बड़े मनोयोग से काव्य-रचना कर रहे थे।

आधुनिक काल अर्थात् भारतेन्दु या द्विवेदी युग में ब्रजभाषा में कविता करने वाले हिमाचली कवियों में रुद्र, ब्रजराज, महाराजा बलदेव सिंह, गणेश सिंह वेदी तथा पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी प्रमुख हैं।

गुलेर के महाराजा शमशेर सिंह के दरबारी कवि 'रुद्र' गुलेर-समीपस्थ 'माल्हा' गांव के निवासी थे। ये कवि कुल से थे। इनके पिता कवि 'भीखा' भी गुलेर-दरबार में आश्रित थे। इनके बनाए हुए लगभग 500 फुटकर छंद उपलब्ध हैं, जिनका प्रतिपाद्य कृष्ण-लीला, भक्ति शृंगार, नखशिख, नायिकाभेद, राजप्रशस्ति तथा भक्ति-नीति है। भाषा प्रवाहमयी है। इनके छंदों का कथ्य भक्ति तथा हृदय का सहज उच्छलन है। रचना की एक बानगी प्रस्तुत है—

'कांबरी ओढ़ चले सुरभी संग हाथ लिए मुरली अति प्यारी।
गोपिन के लरिकान सौं खेलत बोलत बोल महा सुखकारी ॥

'रुद्र' विलोकत ही हरषें गोकुल के सिगरै नर-नारी।
रच्छक होहिं सदा तुमकों वह मोहन मूरत कुंज-विहारी ॥'

कवि रुद्र के पुत्र 'ब्रजराज' गुलेर-दरबार में महाराजा शमशेर सिंह, जयसिंह, रघुनाथ सिंह तथा बलदेव सिंह के समय राजकवि थे। ये ब्रजभाषा के समर्थ कवि थे। इन्होंने १६ वर्ष की अल्पायु में 'देववंदना' नामक १६ छंदों का छोटा-सा ग्रन्थ लिख डाला था। इन्होंने भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय चेतना से पूरी तरह बेखबर रह कर भक्तिकाल तथा रीतिकाल की काव्य-प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में छोटे-बड़े लगभग १५ ग्रन्थों की रचना की थी। राम और कृष्ण इनके काव्य के चरितनायक हैं। इन्होंने 'रामचरित' को आधार बना कर 'रामरसलहरी' नामक प्रबन्ध काव्य लिखा और मुख्य काव्य में कृष्णलीला के प्रसंगों को आंका। 'रामरसलहरी' को हिमाचल में रचित रामकाव्य-परम्परा का अनूठा 'रत्न' कहा जा सकता है। कवित्त और सवैया छंद में लिखित यह ग्रन्थ 'रामचरितमानस' की तरह सात प्रकरणों में विभाजित हैं। इसमें समग्र राम-कथा संक्षिप्त तथा व्यवस्थित रूप में छन्दोबद्ध है। इसके कथानक में स्थानीय लोकाचारों का अनूठा समाहार करके भगवान राम को हिमाचली जन का बाना पहनाया गया है। इस दृष्टि से नवीन प्रसंगोद्भावना तथा प्रसंगानुकूल पात्रों के चरित्र-चित्रण में बृजराज ने आंचलिकता को महत्व दिया है। राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान तथा रावण के चरित्र-चित्रण में कवि सफल रहा है। भाषा, छंद, अलंकार रसपरिपाक तथा शब्द-भण्डार की दृष्टि से रचना ललित है। इसकी प्रांजल ब्रजभाषा के विषय में कहा जा सकता है कि वह प्रसंग, भाव तथा पात्रानुकूल होकर वशवर्तिनी हो गई है। भाव-पक्ष भी उतना ही प्रौढ़ है जितना कलापक्ष। हनुमान जी द्वारा लंका में राम के संदेश-कथन का उदाहरण सुनिए—

पठए हनुमंत दई मुन्दरी, सिय सों विरतंत सुना वहिंगे।
जिय में जनि सोच करो सुन्दरी, कछु द्योस गए हम आवहिंगे ॥
'बृजराज' सुदृष्टि की बृष्टि किए, विरहानल वैगि बुझा वहिंगे
भुजवीस से सीस दसौं कटि के तुहि लै हटि कै घर जावहिंगे ॥

और जैसा अडिग विश्वास राम के संदेश में है, वैसा दर्प रावण को भी अपने भुजबल पर है। युद्ध की गर्वोक्ति है—

रघुवर इक इत निश्चर अनेक उत,
मानत न हार मार खल दल झुंड को।

रन में प्रचारें तउ हारें कहुं काहु तै न,
काटि महि डारें अरि-भुज गज सुंड को ।।

कवि 'वृजराज' भले सुजस उचारे आज,
नामि मध्य मारे सर जोर सुधा कुंड को ।
यौगिनी जमात पहिरावे हिथै संकर के,
गुथि कै बिसाल माल रावण के मुंड को ।।

और जब यही कवि शृंगार का वर्णन करता है तब भाषा में मतिराम, रसखान या घनआनंद का-सा लालित्य भर देता है। नायक द्वारा मानिनी के मनुहार की बानगी का रस लीजिए—

रूठि रही तिय स्वास न लैत, परि सु अचैत निकैत अंध्यारो ।
जो कर सें परसैं सखियां बरसैं अखियां असुआं रिस भारौ ।।

त्यौं वृजराज मनावन काज कर्‌यौ छल पायं पर्‌यौ पिय प्यारौ ।
घूंघट खोल हंसी दुलसी दुति मावस माहिं ससि उजयारौ ।।

ऐसी भाषा में वृजराज ने 'रसिकवित्त', 'दानलीला', 'मनवृति वर्णन', 'रमलसार प्रश्नावली', 'श्रेष्ठाचार, शमशेर पंचक तथा गंगा, दुर्गा, हनुमान और ध्यान विषयक 'अष्टक' भी बनाए हैं। इनके अतिरिक्त इनके दो महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं—'मंगलशतक' और 'नीतिशतक'। 'मंगलशतक' में महाराजा रघुनाथ सिंह के राज्याभिषेक का वर्णन है और 'नीतिशतक' में भर्तृहरि, रहीम, वृंद तथा गिरिधर से प्रेरित होकर कुंडलिया छंद में नीति-कथन। यथा श्वान तथा शठ का तुलनात्मक विश्लेषण :

खोटा काम सु नित करें, डरें न सह अरु स्वान ।
रीझत खीझत पलक में, दोउ एक समान ।।

दोउ एक समान, ज्ञान इनके उर नाहीं ।
चाटैं काटैं बैग, बसैं जिनके ढिग माहीं ।।

कहैं सुकवि 'वृजराज', अहैं तिन का गुरु सोठा ।
तबै सदा बस रहैं, स्वान सठ सबसौं खोटा ।।

वृजराज अन्तिम गुलेर नरेश कवि बलदेव सिंह के काव्य गुरु भी थे। बलदेव सिंह का जन्म सं० १९४० वि० में और देहांत १९७६ वि० में हुआ था। इन्होंने 'सहौंड़ा-माहात्म्य', 'नृपयश

चालीसा', 'रामाष्टक', तथा 'गुरुप्रताप' ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी रचनाओं में हिमाचल के राजाओं के शौर्य तथा इतिहास का वर्णन है। महाराजा संसार चन्द तथा महाराजा रणजीतसिंह के बीच ज्वालामुखी मन्दिर में हुई युद्ध-संधि के विषय में कवि लिखता है—

जाहि डरें संसार महीपति, त्यों रणजीत रहै यह शंका।
भूपति भूप गुलेर बशादुर, वीर कलानिधि संगर बंका।।
ज्वालामुखी इत आउत संगर, जीति मिलाय गुलेर दे डंका।
सुंदर एक बलि भुज विक्रय, दीन को नृप राजहि रंका।।

वृजराज कवि पर गुलेर के पं. प्रत्यूष गुलेरी ने सुंदर शोध प्रबन्ध लिखकर हिन्दी सेवा की है।

बिलासपुर के राजकवि गणेश सिंह बेदी का कृतित्व प्रथम कोटि का है। गुरु नानक देव के वंशज इस कवि ने महाराजा हीराचंद, अमरचंद तथा विजयचंद के दरबार में सम्मान पाया। यह कवि सं० १६१० में आनंदपुर साहिब से बिलासपुर गया था। इसके कृतित्व में भक्तिकाल तथा रीतिकाल की प्रवृत्तियां मुखर हैं। इसने 'शशिवंश विनोद' में यहां के चंद्रवंशी राजाओं का सांगोपांग इतिहास 'श्रीगुरुनानक सूरजोदय जन्मसाखी' में गुरुनानक देव का रामचरितमानस की दोहा-चौपाई शैली में विस्तृत जीवनवृत 'विक्रम विलास' में वैताल पचीसी का भाषानुवाद, 'श्रीकृष्णचंद्र चंद्रिका' में श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध के आधार पर कृष्णलीला, 'शृंगारशतक' में भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर नायिकाभेद तथा स्कंद एवं भविष्यत् पुराणों का उल्था किया था। केशव की तरह शब्द-क्रीड़ा पांडित्यप्रदर्शन तथा अलंकार-योजना इस कवि की विशेषता रही है। 'शृंगारशतक' के कुछ दोहे प्रस्तुत हैं—

कुसुम सेज पर कुसुम-सी, परी कुसुम गर फंघ।
चिते चिकोरन चखन, ते आगम श्रीव्रजचंद।।

बार-बार मिल बार को, जब हरि निकसे बार।
बार नहीं वरुनीन तें, बाढ़यो बारिध बार।।

दाघ निदाघ वियोगिनी, परि जमुन जल माहिं।
जर कर जर कारो भयो, मिटी तप्त तन नाहिं।।

कहना पड़ेगा कि उक्त दोहे किसी भी रीति-कवि के काव्य की तुलना में हल्के नहीं हैं। यमक तथा श्लेष इस कवि के प्रिय अलंकार हैं। और भाषा शिल्प के स्तर पर इन अलंकारों पर कवि का अधिकार भी अचूक है।

बहुत कम लोग जानते होंगे कि 'उसने कहा था' के अमर कथाकार पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी ब्रजभाषा के बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने अपनी पहली कविता 'कुसुमांजलि' सन् १९०२ ई. में ब्रजभाषा में ही लिखी थी। दोहा, द्रुतविलम्बित, वेताल तथा षट्पदी छंदों में लिखित यह कविता एडवर्ड सप्तम् तथा लार्ड कर्जन के प्रति तीखा व्यंग्य है। लार्ड कर्जन को समर्पित करते हुए उन्होंने दीन भारत की ओर संकेत करते हुए लिखा है —

पालनहार प्रकाशतहं, जानत अखिल जहान।
या हित भूपति मान कों, देत मान प्रभु मान ।।
भोग भाग सूरज अस्त, भारत साथ भारत जंग।
छा गई तामसि आपदा, जीभूत जथन संग ।।
घुटि रहयौ घर घर घेर तब अंधेर चहुंघा चाय।
वह दीन्ह निज पर ज्ञान मानव भाव हिन्दु भुलाय ।।
गहत पूज्य सदा अति प्रेम तें, परम भक्ति समर्पित पांखुरी।
विनय तें प्रभु कर्जन में करों, तुमहि भेंट यह कुसुमांजलि ।।

इसके अतिरिक्त उनकी 'रवि' तथा 'स्वागत' कविताएं 'समालोचक' में छपी थीं। 'रवि' में ज्योतिष के अनुसार सूर्य की बारह राशियों में गति का वर्णन है। ज्योतिष की पारिभाषिक शब्दावली तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा से मंडित यह कविता अत्यंत दुरूह है। कवि ने स्पष्टीकरण के लिए २५ छंदों की इस कविता में पंक्ति-दर-पंक्ति ४८ पाद-टिप्पणियां लगाई हैं जिनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा छांदोग्य उपनिषद् उद्धृत हैं। इस कविता के प्रारम्भ में सूर्य स्तुति इस प्रकार की गई है—

'धन्य धन्य दिननाथ ! धाम कल्याण परम के।
हिम-रिपु जीवन दातृ मूर्ति शुभ ज्योति चरम के ।।
रवि ! छवि तव बहु भांति विविध कविगन ने गाई।
द्युमणि ! सुनहु कछु आज कुकवि के चित समाई ।।'
'हे खगोल के केन्द्र ! प्राण जीवन गणितन के ।।
अहो फलित सुरवृक्ष ! सहारा देवज्ञान के।
ज्योतिर्विद नक्षत्र-सूचि सबके अन्नदाता।
जय सिद्धांत सम्राट धर्म कल्पद्रुम धाता ।।'

इनके अतिरिक्त गुलेरी जी की 'एशिया की विजयादशमी', 'अहिताग्निका', 'झुकी कमान', 'स्वागत' अथा वज्जालग्गम् से अनुदित 'प्राकृत के दोहे' कविताएं ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी-बोली में हैं। इन कविताओं से सहज झलकता है कि गुलेरी जी मूलतः ब्रजभाषा के कवि थे, उनकी खड़ी बोली पर ब्रजभाषा पूरी तरह हावी है।

लुहारा (जिला ऊना) के विद्याभूषण पं. जगतराम शर्मा शास्त्री हिमाचल प्रदेश के सशक्त ब्रज-कवि हुए हैं। शास्त्री ने सन् १९४८ ई. में 'जगत सतसई' नामक ब्रजभाषा काव्य की रचना की थी। इस ग्रंथ में १०८ विषयों को आधार बना कर ७०० दोहे लिखे गए हैं जिनमें बीसवीं शती की युगीन चेतना भारतीय संस्कृति लोक-व्यवहार तथा बदलते हुए जीवन मूल्यों का वर्णन है। इस कृति को मुखपृष्ठ पर हिन्दी में अभिनव पवस्तु' कहा गया है। सतसई के प्रतिपाद्य की ओर संकेत करते हुए कवि ने लिखा है—

जो जन इस नव ग्रन्थ को, पढ़हिं सुनहिं घर ध्यान।
बहु विषयन को ज्ञान ओ, पावहिं मोद महान ॥

इस सतसई की अन्योक्तियां तथा व्यंग्य मार्मिक है। लेखक का झुकाव नैतिक शिक्षा की ओर अधिक है। इस विषय को लेकर उसने इसमें एक पूरा 'नीतिशतक' ही रच डाला है। शिल्प में रीति-परम्परा का निर्वाह है। कृत-वर्णन तथा रस-वर्णन मार्मिक है। भाषा प्रांजल ब्रज है तथा खड़ी बोली से प्रभावित है। विषय एक दम आधुनिक है। यथा-नेता, कृषिबल, स्वतन्त्रता, पाकिस्तान, रेडियो, रेल, टेलिफोन, टेलिग्राफ तथा फैशन आदि। कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग कविता आध्यात्मिकता के सूचक हैं। सनातन धर्म संस्कृत कालेज होशियारपुर के आचार्य कवि की कविता की कुछ बानगी इस प्रकार है—

नभ भेदी किलकारियां-धूम धुलि अतिवेल।
कृष्ण वरन, नंगो वदन, धावे रेल-चुडैल ॥

क्षण भर में ही सैंकड़ों, देता गोले फैंक।
उतर रसातल नग चढ़ें, महावीर सम टैंक ॥

घर घर फिरें कुमारियां, बर्ष बीस और तीस।
सब दहेज को दोष है, दूर करो जगदीस ॥

भारत सकल संसार को, देत चरित को दान।
रहे सदा निज धर्मरत, भारत वर्ष महान ॥

इधर नूरपुर के संसारचंद्र प्रभाकर ने भी ब्रजभाषा में कुछ छंद लिखे हैं। उन्होने गुलेर के राज कवि बृजराज के जीवन चरित को ब्रजभाषा में ढालने का सुन्दर प्रयास किया है।

हो सकता है हिमाचल में ब्रजभाषा के और भी आधुनिक कवि हुए हों और भविष्य में उनका कृतित्व सामने आए। हिमाचल के इन आधुनिक ब्रज-कवियों ने जो कुछ लिखा है उसका हिन्दी काव्यधारा को बेग वती बनाने में अक्षुण्ण योगदान रहा है इसमें देसंह नहीं।

१०८५३ गली नं. ४ सुभाष पार्क
शाहदरा, दिल्ली–११० ०३२

# प्राचीन हिन्दू-मन्दिर : निर्माण विधान

—सुरिन्द्र मोहन सेठी

हिन्दू मन्दिर एक पवित्र स्थान है। इसकी उपमा तीर्थों से की जाती है। परन्तु शास्त्रों में इसे अन्य तीर्थों से श्रेष्ठ माना गया है—क्योंकि यह मानस तीर्थ है। मनुष्य यहां मन से स्नान करके पवित्र हो जाता है। मन्दिरों के लिये वही स्थान उपयुक्त है-जहां वाटिका और वृक्ष कुंज हैं, पर्वत की चोटियां, झरने और नदियां हैं क्योंकि वहां देवताओं का बास है। वह स्थान देवताओं को प्रिय है। वे वहां विचरण करते हैं। (बृहत् संहिता)

हिन्दू मन्दिर वास्तु पुरुष का स्वरूप व उसका शरीर है। अग्नि पुराण में पुरुष की तरह इसके भी विभिन्न अंगों के नाम दिये गये हैं। पांव (पादुका), भित्ति (जंघा), मध्यभाग (उदर एवं कटि), छाती (उरु), कन्धे (सकन्ध), मस्तक (शिखर), कलश (शिखा), प्रवेश द्वार (मुख)। गर्भगृह के भीतर मूल देवता के रूप में वास्तु पुरुष के जीव का निवास है। गर्भगृह, गर्भ की भांति अन्धकारपूर्ण (चिदाम्बरम्) रहस्यमय और अलंकरण रहित है और अपने नाम को सार्थक करता है। मनुष्य प्रवेशद्वार के मध्य खड़ा होकर मूल देवता के आगे नतमस्तक होता है। प्रवेश-द्वार वह स्थान है जो सांसारिक और असांसारिक को विभक्त करता है। वह मनुष्य की सुप्त और जागृत अवस्था के मध्य की स्थिति है। प्रवेशद्वार उन मोटिफ और प्रतीकों से सुसज्जित हैं जिनमें जीवन, चेतना और स्फुर्ति है, जैसे मिथुन आकृतियां, बाल, क्रीड़ारत गण, नागपाश, कल्पलतायें आदि। नतमस्तक होने से पूर्व, प्रवेशद्वार के दोनों ओर गंगा और यमुना की आकृतियों के दर्शन मात्र से ही भक्त की मानसिक शुद्धि हो जाती हैं। पुरुष की भांति वास्तु पुरुष की भी खाने, सोने और जागने की अवस्थायें हैं। वास्तु पुरुष के अभिषेक (स्नान) में प्रयुक्त होने वाले जल का प्रवाह और विकास उत्तर की ओर किया जाता है। क्योंकि स्वर्ग उत्तर दिशा की ओर है। स्वयं जब गंगा उत्तर की ओर बहने लगती है तो उसका जल श्रेष्ठतम हो उठता हैं।

मन्दिर बनवाने वाला यजमान अथवा कारक कहलाता है। और मन्दिर निर्माण हेतु स्थापति की नियुक्ति करता है। स्थापति, स्थापत्य-शास्त्र उपवेद का पारंगत विद्वान है। उसे गणित, ज्योतिष और वास्तु शास्त्रों का अपूर्व ज्ञान है। मन्दिर शास्त्रीय विधान के अनुसार निर्मित न होने पर स्थापति का अनर्थ हो सकता है। स्थापति की सहायता के लिये यजमान, सूत्रगाही अथवा सूत्रधार, तक्षक और वर्धक की नियुक्ति करता है। परन्तु इन सबसे ऊपर आचार्य अथवा गुरु रहता है जिसकी देख रेख में सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न होता है। वे सभी शिल्पकार सम्मान के योग्य हैं।

मन्दिर बनाने से पूर्व भूमि का चुनाव (भूमि-संग्रह) व उसका निरीक्षण (भू-परीक्षा) आवश्यक है। भूमि परीक्षण के लिए बृहत् संहिता व अन्य शास्त्रों में कई साधन बतलाये गये हैं। जिनमें सबसे महत्वपूर्ण अंकुरपाण है। अंकुरपाण का प्रयोग मन्दिर के पूरा होने पर देवता का चक्षु खोलने (नेत्र-मोक्ष) के लिये भी किया जाता है। किसी शुभदिन यजमान और स्थापति उस भूमि पर जाते हैं (भूमि दर्शन) जो मन्दिर निर्माण के लिए निर्धारित की गई है। यजमान और स्थापति भूमि पर हल चला कर उसे शुद्ध करके बीजारोपण करते हैं। तीन, पांच या सात दिन के पश्चात उस भूमि पर फूटे हुए अंकुरों का निरीक्षण किया जाता है इन अंकुरों को मंगल अंकुर भी कहते हैं क्योंकि वास्तु पुरुष का जीव, मन्दिर निर्मित होने से पूर्व इन्ही अंकुरों में वास करता है। इसके अतिरिक्त भूमि की उपयुक्तता को गंध, स्वाद और रंग से आंका जाता है। तत्-पश्चात भू देवी को मंत्रों द्वारा दृढ़ रहने का आवाहन किया जाता है और उस भूमि पर विचरती अन्यआत्माओं को वह स्थान त्याग देने के लिये कहा जाता है। स्थापति फिर उस भूमि पर वर्गाकार मंडल का निर्माण करता है। यह मंडल वास्तु पुरुष मंडल कहलाता है अतः यह शरीर यंत्र है। वास्तु पुरुष मंडल वर्गाकार है क्योंकि यह वर्ग विश्वकर्मा का आभूषण है। विश्वकर्मा द्वारा इन्द्र को प्रदान किए गये ध्वज का प्रतीक वर्ग है। वास्तु स्थापत्य में वर्ग को ही प्रधानता दी गई है। वृत, आयत और त्रिभुज वर्ग से उत्पन्न हुए हैं। अतः भारत के शिखर मन्दिर का ग्राउन्डप्लान (तालछन्द) मूल रूप में वर्गाकार है। वास्तु पुरुष मंडल खींचने के पश्चात् स्थापति उनमें ६४ अथवा ८१ कोष्ठ (पाद) बनाता है जिनमें मन्त्रों द्वारा विभिन्न देवताओं का आवाहन कर उनमें स्थित किया जाता है। उनकी स्थापना के लिये विभिन्न नक्षत्रों एवं ग्रहों की दशा का भी ध्यान रखा जाता है। मध्य कोष्ठ सदा ब्रह्मा के लिये निर्धारित रहता है। यह स्थान ब्रह्मपुरा अथवा ब्रह्मस्थान कहलाता है। गर्भगृह का निर्माण इसी स्थान पर किया जाता है। शिखर मन्दिर के बाहरी आवरण, शरीर पर दृष्टि-गोचर अनेक देवी देवता वास्तु पुरुष मंडल में स्थापति देवताओं को ही प्रतिबिंबित करते हैं। जंघा

भाग की तीन मुख्य दीवारों में उन तीन देवताओं की स्थापना की जाती है जिनका सम्बन्ध किस न किसी रूप में गर्भगृह में स्थित मूल देवता के साथ रहता है। यद्यपि प्रवेशद्वार एक ही हैं परन्तु गर्भगृह में स्थापित मूल देवता इन तीन गवाक्षों में अपने किसी रूप में प्रकट रहता है। अतः वे गवाक्ष घनद्वार कहलाते हैं। मन्दिर का मुख किस ओर हो इस हेतु भी नक्षत्रों एवम् ग्रहों से विचार विमर्श किया जाता है। इन नवग्रहों की संरचना शिखर मन्दिरों में प्रायः प्रवेशद्वार के ऊपर लिंटल (उत्तरांग) में दृष्टिगोचर होती है। मंदिर व यजमान की आयु, मंदिर की लम्बान व अन्य मानदण्ड ग्रहों पर निर्भर करती है।

मन्दिर निर्माण के साथ-साथ गुरु द्वारा मन्त्रोचारण का कार्य भी चलता रहता है। मन्दिर सम्पूर्ण होने पर यजमान, स्थापति व अन्य सहायकों को यथा योग्य धन, आभूषण और वस्त्रदान करता है वह स्थापति को स्वर्ण दान करता है और मन्दिर निर्माण कार्य का सारा पुण्य उससे प्राप्त कर लेता हैं।

पंजीकरण अधिकारी (उत्तर क्षेत्र)
भाषा एवं संस्कृति विभाग,
सिविल बाजार, धर्मशाला (हि.प्र.)

१९/सोमसी, जनवरी १९८९

# चम्बयाली लोकगीतों में रस-योजना

☐ डॉ. विद्या चन्द ठाकुर

रस शब्द अनेकार्थ वाची है। सामान्यतः किसी फल आदि वस्तुओं में विद्यमान खट्टे, मीठे, कड़वे इत्यादि तरल आर्द्र पदार्थ को 'रस' कहा जाता है। परन्तु काव्य शास्त्रीय दृष्टि से रस का अभिप्राय काव्य के आनन्द से होता है।

काव्य शास्त्रियों ने रस की व्यापक रूप से विवेचना की है। बहुधा विद्वान यह मानते हैं कि रस काव्य की आत्मा है। आचार्य भरत मुनि इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक हैं। आगे चल कर रस सिद्धान्तवादी आचार्यों में आचार्य विश्वनाथ ने प्रमुख रूप से मत स्थापित किया "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है।

चम्बयाली लोक-गीतों में काव्य शास्त्र प्रतिपादित शृंगार, हास्य, करुण आदि सभी नव रसों के दर्शन होते हैं।

**शृंगार रस :** शृंगार रस प्रधान लोक-गीतों का चम्बा में अतीव प्राधान्य है। काव्याचार्यों द्वारा शृंगार रस को रसराज कहा जाता है। साहित्य क्षेत्र में मान्य संयोग और विप्रलम्भ शृंगार की दोनों दशाएं चम्बयाली लोक-गीतों में मिलती हैं।

**संयोग शृंगार रस :**

जोवणू नणाने, मंजा भौड़ी कि उज्याने
अज्ज मेरे बाबू इणा हे।

इसमें एक नायिका अपनी युवति ननद से कहती है कि मेरी युवा ननद चारपाई ऊपर के कमरे में है या नीचे के कमरे में है। देख ! आज मेरे पति ने आना है।

एक अन्य उदाहरण :—

चाजूं री चुरैहणी मेरी जानी
ढेरी लांदी जोजी भला हे,
ढेरी लांदी जोजो मेरी जानी,
मन लैंदी मोही भला हे।

चुराह क्षेत्र में चांजू ग्राम की चुराही स्त्रियां जोजी (शिरोवस्त्र) टेढ़े रूप में धारण करती है। टेढ़ी जोजी लगवा कर मेरी जान ! वे मन को मोह लेती हैं।

**(ख) विप्रलम्भ शृंगार** : पिया वियोग में उत्पीड़ित एक शृंगारिक भावाभिव्यक्ति :—

न मैं न्हाती रे, न मैं धोती रे
न मैं कित्ता सिंगार
न मैं सेजा चढ़ियां सुत्तिया,
बदरा मेरा पिया परदेस।

न मैंने स्नान किया है, न मैंने शरीर धोया है, न मैंने हार शृंगार किया है और न ही मैं शैय्या पर सोयी हूं। हे मेघ ! मेरा प्रियतम बाहर देश में है।

**हास्य रस** : चम्बा के लोक-गीतों में हास्य रस का भी अभाव नहीं है। उदाहरणार्थ :—

सुथणू फटोरा तेरा, जान्हु निकलोरा हो,
उइयां ता गलांदा साहूकार भलेया,
अलबेलुआ हो।

हे अलबेलु ! फटा हुआ तेरा पाजामा है। घुटना दिख रहा है, वैसे अपने-आप को बड़ा साहूकार कहता है।

एक अन्य उदाहरण :—

मियां हूंदे मासा रे खुराकी हो,
आंसे झोटणु कढोरा तेरे सो।

राजपूत मियां मांस के शौकीन होते हैं। हमने सत्यमेव तुम्हारे लिए भैंसा काटा हुआ है।

**करुण रस** : करुण रस की योजना चम्बयाली लोक-गीतों में बहुलता से पायी जाती है। महाकवि भवभूति ने 'एको रसः करुण एव' का सिद्धांत स्थापित कर नव रसों में करुण रस को सर्व-प्रधान रस माना है। करुण रस में ओत-प्रोत गीतों से वज्र हृदयी भी पसीज के रह जाता है। रानी सूही के आत्म बलिदान की अमर-स्मृति में गाये जाने वाले 'सुकरात' लोक-गीत में देखें कितनी मार्मिकता है—

सुकरात कुड़ियो ! चिड़ियो ! सुकरात नौण पणिहारे हो।
ठण्डा पाणी किहां करी पीणा हो,
तेरे नैणा हेरी हेरी जीणा हो ॥

हे कुड़ियो ! चिड़ियो ! पनघट पर शोक की रात है। तेरे वियोग में हम ठण्डा पानी कैसे पीएंगे। अच्छा था कि हम तेरे स्नेहासिक्त नयनों के दर्शन से ही जीवन यापन कर लेते।

**रौद्र रस** : रौद्र रस अधिक तो नहीं पाया जाता परन्तु, कुछ गीतों में सुलभ है। यथा वियोग पीड़िता नायिका क्रोधावेश में कहती है—

मोरे मन उदासी लागे
लीजियो वन बांसुरी,
हरे को कटाए डारूं, सूखे को जलाए डारूं,
उपजो ना बांस तेरो, बजेगी ना बांसुरी।

मेरे मन में उदासी आ रही है। यह वन की बांसुरी ले लीजिये, अर्थात् दूर हटाइये। हरे को मैं काट दूं, सूखे को जला दूं। जिससे कि बांस उपजे ही न, तो बांसुरी भी नहीं बजेगी।

**वीर-रस** : कुछ गीत यहां वीर रस प्रधान भी है यथा नेरटी में चम्बा नरेश का बिना सिर लड़ते रहने का वर्णन—

नेरटी दे हारा सिघणी चढ़ी आई,
नेरटी दे हारा बिजन मुंडी धड़ खेले,
चम्बा दा राजा बिजन मुंडी धड़ खेले।

नेरटी क्षेत्र में सेना चढ़ आई है। नेरटी की रणभूमि में बिना सिर के धड़ लड़े। चम्बा का राजा बिना सिर से धड़ मात्र लड़ता रहा।

**भयानक रस** : भयानक रस का भी चम्बयाली गीतों में अभाव है तथापि, यत्किंचित दर्शन अवश्य पाए जाते हैं। यथा—

घणीहर गरजे, मेरी जान घणीहर गरजे,
हो काले या मोरा, हो जग चोरा,
तैंईयो मेरी निंदर जगाई, मेरी जान तैंईयो मेरी निंदर जगाई।
आई रूत सावन दी मेरी जान, घणीहर गरजे।

मेघ गरज रहे हैं ! मेरी जान ! मेघ गरज रहे हैं। हो काले मोर ! जग चोर ! तूने मेरी निद्रा भंग की है। सावन की ऋतु आ गई है। मेघ गरज रहे हैं।

**वीभत्स रस** : वीभत्स रस भी यहां के लोक-गीतों में बहुत कम पाया जाता है। एक लोक-गीत में नन्द लाल नामक हत्यारे द्वारा पत्नी की हत्या के चित्रण में वीभत्स रस की योजना हुई है—

एक फट मारी नन्द लाल,
बांह सरहाणे कटी सुटी हो।
दुज्जी फट मारी नन्द लाल,
धड़ मुंडी बक्ख कित्ती हो।

नन्द लाल ने एक वार किया, भुजा सिरहाने काट फैंकी। दूसरे बार में नन्द लाल ने सिर और धड़ अलग-अलग कर फैंके।

**अद्‌भुत रस** : चम्बयाली गीतों में अद्‌भुत रस के दर्शन भी सुलभ हैं। यथा—

मन्दर देख डरे सुदामा,
मन्दर देख डरे।

२३ सोमसी, १९८३ जनवरी

पहले ता थी मेरी घास की कुटिया
कांचन महल खड़े ।
सुदामा मन्दर देख डरे ।

भक्त सुदामा द्वारकापुरी से चलकर जब अपने घर लौटते हैं तो विस्मय की सीमा नहीं रहती । वह मन्दिर देख कर डर जाते हैं । देखते हैं कि पहले तो मेरी घास की कुटिया थी, अब स्वर्ण महल खड़े हैं । सुदामा मन्दिर देख कर विस्मित हो जाते हैं ।

**शान्त रस** : चम्बा में आध्यात्मिक, दार्शनिक भावों को लिए शान्त रस के निष्पादक लोक-गीत भी पर्याप्त मात्रा में हैं । उदाहरणार्थ -

ना वो थिए धरती, ना वो थिए आकासा ।
ना वो थिए पोण, ना वो थिए पाणी ।
ना वो थिए चन्द्र, ना वो थिए सूरज ।
ना वो थिए तारे, ना वो थिए भियाणू ।
ता वो थिए गुरू न्यारे ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में न धरती थी, न आकाश था । न हवा थी, न पानी था । न चन्द्र था, न सूर्य था । न तारे थे, न प्रभात का तारा था । उस समय संसार को चलाने वाला एक मात्र अनिर्वचनीय गुरू था ।

इस प्रकार चम्बयाली लोक-गीतों में न्यूनाधिक रूप से सभी नव रसों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं परन्तु, बहुसंख्या शृंगारिक एवं करुण रस प्रधान लोक-गीतों की है ।

ज़िला भाषा अधिकारी,
मण्डी (हि. प्र.)

# भूले बिसरे खेल मनोरंजन

□ नरेन्द्र अरुण

आज के आधुनिक युग की जिजीविषा के मोहपाश में व्यक्ति सचमुच इतना उलझा हुआ दिखाई देता है कि उसे अपने दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान से छुटकारा ही नहीं मिलता। ऐसी विवशता-जन्य परिस्थितियों में यदि हम मनोरंजन का नाम भी लें तो स्वयं आश्चर्य होने लगता है। समाज की कर्त्तव्य-निष्ठ जिम्मेवारियों के लिए समस्याओं के द्वन्द-पाश में बंध कर व्यक्ति छटपटाने लगता है, फिर भला कपोल कल्पित सपने सजाने का अवकाश ही कहां ? वह तो सचमुच लोन तेल और लकड़ी की समस्याओं का दास बन कर रह गया है।

अतीत के गर्भ में जब मानस-पटल पर मनोरंजन के सपने सजने लगते हैं तो निश्चित ही उन भूले बिसरे खेल मनोरंजनों का स्मरण हो आता है जिन का कभी बचपन के क्षणों से निकटतम सम्बन्ध रहा था। प्रस्तुत लेख में यह प्रयत्न किया जा रहा है कि यहां पर वे खेल-मनोरंजन ही प्रस्तुत किए जायें जिन का भविष्य अंधकार के गर्भ में कहीं लुप्त सा होने लगा है। नाना प्रकार के बिभिन्न मनोरंजनों में यहां उन ही मनोरंजनों का उल्लेख किया जा रहा जो आधुनिक प्रगतिशील मनोरंजनों की श्रेणी में नहीं आते और जिन के साथ हमारे जीवन के बचपन का अधिकांश भाग जुड़ा हुआ है। आज के युग में दूरदर्शन जैसे मनोरंजन हमारे पारम्परिक-सांस्कृतिक मनोरंजनों को जिस प्रकार क्षति पहुंचा रहे हैं यह कटु-सत्य आज किसी से छिपा नहीं है। हमारे भूले-बिसरे मनोरंजनों में न जाने कितने मनोरंजन विस्मृति के गर्भ में दम तोड़ चुके हैं और न जाने कितने उन में से लुप्त होने वाले हैं। अक्षुण्ण ज्ञान की सीमाओं में भूले बिसरे खेल-मनोरंजन जो आज भी मानस-पटल पर अंकित हैं उनका विवरण निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत है—

क. वे भूले बिसरे खेल मनोरंजन जो बाह्य प्रांगण के उनमुक्त वातावरण में खेले जाते हैं।

ख· वे भूले बिसरे मनोरंजन जो घर के भीतर चारदीवारी में बंद कमरे के भीतर खेले जाते हैं।

प्रथम श्रेणी के भूले भटके मनोरंजनों में क्रिकेट, हॉकी, बालीबाल, हैण्डबाल, फुटबाल जैसे स्थापित मनोरंजनों का उल्लेख यहां अपेक्षित नहीं अपितु यहां पर उन खेलों की चर्चा ही अपेक्षित है जो ग्रामीण परिवेश के अधिक निकट रहे हैं और जिन के आयोजन में व्यय भी नहीं होता और भरपूर मनोरंजन भी उपलब्ध हो जाता है। ऐसे खेल मनोरंजन में कबड्डी, झील-झपट्टा, गिल्ली-डण्डा, पिट्टू, राँण्डियस, कोरड़ा, खुण्डो, खिनुवा, पनगिटड़े, खोड़, कन्चे, चोर स्पाई लुक मच्याणी, छू छवाई, ऊंच-नीच, दाई, राजा-बकरी, रूमाल आदि खेल प्रमुख हैं।

**कबड्डी :** कबड्डी का यह खेल ग्रामीण परिवेश को लांघकर बड़ी तीव्र गति से ओलम्पिक खेलों की ओर लपक रहा है। दो टोलियों के बीच खेले जाने वाले इस खेल से कौन परिचित नहीं। दोनों टोलियों में सात-सात सदस्य भाग लेते हैं। ग्रामीण कबड्डी में खिलाड़ियों की संख्या निश्चित नहीं होती। कभी कभार ग्रामीण परिवेश में गूंगी कबड्डी या 'छाड' (हार) मानने वाली कबड्डी का प्रचलन था जिस के बदले अब अंकों की कबड्डी ही चलती है।

**झील-झपट्टा :** इसे लम्बी कबड्डी या झील झपट्टे वाली कबड्डी के नाम से जाना जाता है। दो टोलियों के बीच खेली जाने वाली यह कबड्डी अत्यन्त मनोरंजक होती है। यह खेल खुले मैदान में खेला जाता है। एक ओर झील की सीमा रेखा खींची जाती है और बीच में झील, झील के मध्य लगभग १५/२० मीटर की दूरी पर एक टापू। यह टापू वृत्ताकार में होता है जिस के भीतर पहली बारी वाले दल का एक सदस्य कैद होता है। उस कैद पात्र की पहरेदारी में दूसरे दल का यह प्रयत्न होता है कि कैदी टापू से आजाद न हो। इसके विपरीत पहले दल की यह कोशिश होती है कि वह अपने कैदी साथी को दूसरे दल के चुंगल से छुड़ा कर लायें। इसी प्रयत्न में पहला खिलाड़ी सीमा रेखा से 'कबड्डी' पुकारता जाता है दूसरे दल की सुरक्षा पंक्ति को मारता या भगाता है और इसी प्रयत्न में टापू में कैद साथी अपनी सीमा रेखा की ओर लपकता है। यदि पहले दल वाला दूसरे दल वाले को छूता है तो वह मर 'आऊट हो' जाता है और यदि दूसरे दल वाले साथी टापू में कैद साथी को टापू से भागते समय सीमा रेखा पार करने के बीच छू ले तो वह मर जाता है। झील-झपट्टे की यह कबड्डी तब तक चलती है जब तक किसी दल के पूरे साथी मर नहीं जाते। लम्बी कबड्डी का यह झील झपटा अब लुप्त सा हो गया है।

**गिल्ली डण्डा :** गांव के खुले-डुले मैदानों में गिल्ली डण्डे की अपनी शान होती है। गिल्ली और डण्डे के टोरों टोरे वाह ! कितना आनन्द आता है। कभी कभार गिल्ली पर डण्डे का इतनी जोर का टोरा पड़ता है कि गिल्ली मैदान के उस छोर से कहीं लोप हो जाती है और सभी लड़के मारे हर्ष के हवा मे निम्नलिखित बोल उछालते हुए फिरते हैं—

कुरली राहची डण्डा बाद
हारने वाले होए बरबाद।
गिल्ली राहची डण्डा बाद
जलणे वाले होए बाद।

खेल-खेल में जब 'बित्तु' बनते हैं तो जीते हुए खिलाड़ी को हारने वाले की पीठ की सवारी करने का जो आनन्द आता है उस का वर्णन सीमा से बाहर है। पीठ की सवारी को सोलन की जनपदीय भाषा में चांठी कहते हैं। चांठी चढ़ते समय बिजयी दल उन्मुक्त वातावरण में ललकारता हुआ सुनाई देता है—

चांठो चढ़ी चबारे
उत्तरनी पारले किनारे

गिल्ली डण्डे के खेल में कभी ऐसा भी होता है कि हारने वाला दल लगातार हारने पर मैदान छोड़ देता है। उस क्षण जीतने वाली टोली चिढ़ाने के लिए जोर-जोर से चिल्लाते हैं—

हारी गा पतारी गा।
शुकि लिण्डी चारी गा॥

'सुक्की लिण्डो चारने' की बात व्यंग्य बाण का तीखा प्रहार हारने वाली टोली के मानस पटल पर होता है। आज अगर आप गांव के वातावरण में जायें तो वहां न गिल्ली मिलेगी न गिल्ली डण्डा······परन्तु नन्हे मुन्ने बालक टीन का टुकड़ा जमीन में गाड़े, उसकी विकटें बना कर क्रिकेट खेलते हुए दिखाई देते हैं।

**पिट्ठू :** भूले बिसरे खेल मनोरंजनों में अब भी पिट्ठू अपनी गरिमा बनाए हुए है। रबड़ या कपड़े के चीथड़ों से बनी हुई गेंद और कुछ थोड़ी दूरी पर छोटी बड़ी सात गोल-मटोल चपटी

पत्थर की ठीकरियों को एक दूसरी पर रख कर यह खेल प्रारम्भ होता है। एक टोली गेंद से पिट्ठू को गिराती है और चक्कियों को दोबारा लगा कर पिट्ठू जमा कर लेते हैं और यदि पिट्ठू लगाती बार प्रतिद्वंद्वी दल गेंद से पिट्ठू जोड़ने वाली टोली के किसी भी सदस्य को गेंद से मारता है वह मर जाता है। दो टोलियों के बीच पिट्ठू का यह खेल निरन्तर चलता ही रहता है।

**रौण्डियस** : 'रौण्डियस' शब्द ही अपने आप में विदेशी लगता है। यह खेल स्वदेशी है या विदेशी यह सब कुछ कहना यहां कठिन है परन्तु इतना अवश्य है कि यह खेल १९४५-४६ के आस-पास खेला जाता था। दो दलों के बीच एक बड़े गोल 'राऊण्ड' तथा तीन छोटे वृत्तों के मध्य यह खेल खेला जाता है। पहली बारी लेने वाला दल बड़े दायरे में होता हे। दूसरा दल छोटे तीन दायरों के आस-पास मैदान में इस ताक से धाक जमाए रहते हैं कि बड़े वृत्त से छोटे वृत्त तक भागने वाले खिलाड़ी को गेंद का निशाना बना कर उसे मारा जाय। खेल की शुरुआत बड़े वृत्त के एक खिलाड़ी को हाथों से बाहिर का खिलाड़ी गेंद उछलवाता है। मौका पाते ही बड़े दायरे वाला गेंद को इतनी जोर से मारता है कि उसे जब तक दूसरा खिलाड़ी गेंद पकड़े वह भाग कर छोटे वृत्त मे पहुंचता है। दूसरी बार बड़े वृत्त वाला छोटे वृत्त में पहुंचता है और छोटे वृत्त वाला अगले वृत्त में। खिलाड़ियों का यह चक्र घड़ी की सुइयों की विपरीत दिशा में तब तक चलता रहता है जब तक सारे के सारे पहले खेलने वाले आऊट 'मर' नहीं जाते। हमारे जनपद से रौण्डियस का यह खेल ओझल सा हो गया है।

**कोरड़ा** : खेल जगत में कोरड़ा अपना अलग-थलक पुराना स्वर्णिम इतिहास रखता है। कौन है ऐसा जो कोरड़े के खेल से परिचित नहीं। घर के आंगन में या खुले प्रांगण में कोरड़े का खेल सांझ ढले शुरू हो जाता है और तब तक चलता रहता है जब तक गहन अन्धेरा न हो जाए। यदि ऋतु गर्मी की हो तो चांदनी रात में भी इस खेल में अद्भुत आनन्द आता है। गांव के गली मुहल्ले के बच्चे एक गोल दायरा बना कर बैठ जाते हैं। टोली का एक खिलाड़ी एक कोड़ा बनाकर खिलाड़ियों का चक्कर काटता है और बड़ी सतर्कता से किसी खिलाड़ी के पीछे छुपाता है। वृत्ताकार में बैठे हुए खिलाड़ी पीठ पीछे हाथ फैला कर कोड़े को खोज तो सकते हैं पर पीछे देख नहीं सकते। यदि खिलाड़ी पीछे पड़ा हुआ कोड़ा खोज निकालता है तो कोड़ा छुपाने की बारी उसकी होती है यदि उसे पता न चले तो कोड़ा छुपाने वाला सम्पूर्ण चक्कर काटने के बाद उस लड़के को कोड़ों से मारता है। लड़का कोड़े की मार से बचने के लिए दायरे का एक पूरा चक्कर लगा कर खाली स्थान पर बैठता है। सोलन जनपद में 'कोरड़ा' शब्द कोड़े का अपभ्रांश स्वीकारा जाता है। कोड़े के इस

कोरड़े खेल को यदि हम यवन-संस्कृति की देन कहें तो अतिशयोक्ति नहीं । कोरड़े खेल की सर्व प्रचलित पंक्तियां जिसे कोरड़ा छुपाने वाला कोड़ा छुपाती बार चक्कर काटते हुए दुहराता है वे इस प्रकार है

कोरड़ा छुपाती जुमेरात आई है
जेड़े पीछे मुड़ के तके उस दी शामत आई है।

**खुण्डी :** हॉकी नुमा प्राकृतिक रूप से मुड़ी हुई किसी वृक्ष की मजबूत टहनी खेलने के लिए छील-छाल कर खुण्डी के प्रारूप से घड़ ली जाती है। खेलने के लिए नए पुराने चीथड़ों से बनी एक गोल गेंद। खेल का तरीका लगभग वही जो हाकी के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि खुण्डी का खेल महाभारत के पौराणिक खेलों से सम्बन्ध रखता है। यह भी माना जाता है कि कौरव और पाण्डव इस खेल को बड़े ही चाव से खेलते थे।

**खिनुवा** : हॉकी के बदले जैसे पुराने समय में खुण्डी के खेल का प्रचलन का उसी प्रकार फुटबाल के बदले खिनुवा खेला जाता रहा। खिनुवा फुटबाल के बराबर या उस से कुछ छोटा लीरों-पचीरों का बना हुआ होता है। खेल प्रक्रिया ठीक फुटबाल के खेल जैसी। खिनुवे का खेल स्वतन्त्रता से पूर्व हमारे जनपद में जीवित था।

**पनगिटड़े** : पनगिटड़े अर्थात् पांच गिट्टे या पत्थर लड़कियों का खेल है। पनगिटड़ों के आधुनिक खेल में गोटियों की संख्या पांच, सात, तेरह या पन्द्रह आदि तक रख ली जाती है। इसे खेलने की अनेकों विधियां हैं। पनगिटड़े खेलने वालों की संख्या निश्चित नहीं होती यह खेल वैसे तो घर के भीतर भी 'पनगिटड़े' खेले जा सकते हैं। परन्तु ऐसा जन विश्वास है कि यदि घर के भीतर पनगिटड़े खेले जाएं तो परिवार पर ऋण चढ़ जाता है। पनगिटड़ों के खेल में बाजियां चढ़ाने और उतारने का बड़ा मजा आता है खिलाड़ियों का दृढ़ विश्वास है कि यदि हारने वाले बाजियां न उतार सकें तो सारी की सारी बाजियां सिरहाने में सिर रख कर रोती हैं और स्वप्न में डराती हैं।

**खोड़ :** 'खोड़' का खेल अखरोट का खेल है। प्रायः दीपावली के पावन अवसर पर अखरोटों का खेल 'घूड़ी' या 'गुच्ची' के खेल में खेला जाता है। अखरोटों का जन्म तो मानो खेल के लिए ही होता है। सोलन के कुनिहार जनपद में अखरोटों के सम्बन्ध में एक बड़ी सुन्दर बुझारत है—

अलणिए नि मालणिए, मालेया सारा देस,
आपु बैठी धारा पान्दे, पुत्त खेलो परदेस।

सचमुच पहाड़ों की ऊंचाइयों से उतर कर मैदानों में खेलने आ गए अखरोट । अखरोटों का यह खेल जहां एक ओर मनोरंजन प्रदान करता है वहां दूसरी ओर अखरोटों के खेल को जुआ अथवा द्युतक्रीड़ा से भी जोड़ा जाता है । दशहरे और दीपावली के मध्य 'खोड़ों' का यह खेल खूब जोरों पर होता है ।

**कञ्चे :** कञ्चे, बटे, बलोरे या गोलियां अलग अलग नाम हैं । कञ्चे का खेल भी नाना प्रकार से खेला जाता है । गांव हो या शहर गली-गलियारों में लगभग सभी आयु के लड़के बच्चे खेलते हुए दिखाई देंगे । प्रायः हमारे समाज में कञ्चों के खेल को अच्छा नहीं समझा जाता । प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि कञ्चों के इस खेल से जूए की आदत ही पड़ती है । अधिकांश वे बच्चे जो पढ़ाई लिखाई में कमजोर हैं या कामचोर होते हैं कञ्चों के खेल में अधिक रुचि लेते हैं ।

**चोर-स्पाई :** लगभग दस वर्ष से कम उमर के बच्चों में चोर-स्पाई का खेल खेला जाता है । भले ही चोर-स्पाई का खेल आज भी बच्चे हर्षोल्लास से खेलते हैं फिर भी खेल का मूल प्रारूप नष्ट-भ्रष्ट होता जा रहा है । बच्चों की टोलियों से सम्पर्क स्थापित करने के पश्चात् हमें चोर-स्पाई का जो प्रारूप उपलब्ध हुआ वह इस प्रकार है ।

राजा : काजी ! काजी !!
काजी : जी हजूर !
राजा : इन दोनों में कौन चोर ?

राजा की आज्ञा मिलते ही काजी या सिपाई चोर ढूंढने लगता है वह देखता है कि किस चोर की दाड़ी में तिनका है । हां ! याद आया बच्चों के दाढ़ी तो होती ही नहीं केवल मुख पृष्ठ पर उड़ते हुए रंगों को पहचान कर ही चोर की पकड़ होती है । भाग्य की बिडम्बना कि यदि काजी या सिपाही चोर को न पकड़ पाए तो दोनों में से एक को चोर बनना पड़ता है ।

**राजा-बकरी :** राजा-बकरी का खेल भी अब लुप्त सा होने लगा है । राजा-बकरी का खेल भी दो टोलियों में खेला जाता है । खेल में मनोहारी संवाद द्रष्टव्य हैं—

"कौन है ?"
"राजा का आदमी"
"क्यों आया है"

"राजा ने भजा है"
क्यों भेजा है ?"
"राजा मांगे बकरी, मैं बकरी ले जाऊंगा ।
एको-एक बकरी, हजार मुल्ल पाऊंगा"

तभी दूसरी टोली कह उठती है ।

"जोर है तो ले जा"

फिर क्या, चुनौती मिलते ही राजा के आदमी उस बकरी को छुड़ाने के प्रयत्न में छीना झपटी शुरू कर देते है । यदि बकरीं छीनने में सफल न हो तो उसे बकरी बना कर फिर खेल शुरू हो जाता है। किसी किसी गांव में संवाद योजना में बकरी के बदले पेड़े मांगते हैं। कुनिहार जनपद में राजा-बकरी के संवाद देखिए—

"कौड़ू कौड़ू सन्यार ! भाइ कान्नो आया ?"
"राजा ने दो पेड़े मांगे"
"पेड़े कच्चे ! है नि देणे"
जोर है तो लयी जा"

एक बार फिर वही पेड़े को राजा के पास ले जाने की छीना झपटी । राजा बकरी मांगे या पेड़ा खेचातानी का यह क्रम तो चलता ही रहता है ।

**आते हैं ! आते हैं :** खींचातानी का यह खेल राजा-बकरी के खेल की तरह ही है । यह खेल भी बच्चे दो टोलियों के बीच खेलते हैं । इस खेल में दोनों टोलियां मधुर स्वरों में गा-गा कर एक दूसरे को चुनौतियां भेजते हैं—

पहली टोली—"हम फूलों में आते हैं, आते हैं
ठण्डी मौसम में ?"
दूसरी टोली—"तुम किस को लेने आते हो, आते हो
ठण्डी मौसम में ?"
पहली टोली—"हम (आमुख) को लेने आते हैं, आते हैं
ठण्डी मौसम में ?"

दूसरी टोली ने चुनौती दी और 'आमुख' को अपनी टोली में ले जाने के लिए छीना झपटी शुरू ।

**हरा समुन्दर** : छोटे-छोटे बच्चों के बीच दो टोलियों में गीत के साथ खेला जाने वाला यह खेल भी मनमोहक होता है । चर्चित खेल में समुन्दर के मध्य छोटी छोटी मछलियां और बीच में मछलियों की रानी। गोल दायरे में खड़े बच्चे नृत्य मुद्राओं में इस खेल को बड़े चाव से खेलते हैं—गीत का क्रम इस प्रकार चलता है—

मछलियां : "हरा समुन्दर गोपी चन्द्र
बोल मेरी रानी कितना क पानी ?"

रानी : इतना क पानी"

सागर की गहराई मापने के लिए पांव के टखनों से, घुटनों से, कमर से, छाती से, गर्दन से, सिर से गहराई मापने के बाद रानी डूब जाती है।

खुले प्रांगण में खेले जाने वाले खेल सांझ ढले सूरज डूबने के बाद अंधेरा होने तक चलते रहते हैं । गर्मी के मौसम में चांदनी रात में भी इन खेलों की चहचहाटत फिज़ाओं में सुनाई देती हैं । दाई, लुक छुपाई जैसे खेलों का आनन्द फुल-फटक चांदनी में तो कुछ और ही होता है । प्रांगण में खेले जाने वाले इन खेलों के लिये कुछ नियमों के प्रावधान की व्यवस्था होती है । नियमों का पालन दोनों टोलियां बराबर करती हैं । खिलाड़ी बचाव या आराम के बहाने 'थुच्ची', 'थुईयां' या 'टाईम' शब्द का उच्चारण करते हैं । खेल का प्रारम्भ कौन दल पहले करेगा इस का निर्णय आधुनिक पद्धति 'हैड-टेल' पर आधारित होता है । इसे ग्रामीण भाषा में 'पुगणा' कहते हैं जो दल पुगता है उस की जीत समझी जाती है तथा निर्णय शूक सीन से होता है । चपटी गोल पत्थरी को एक ओर गीला करते हैं । पानी से या थूक से । गीला पक्ष सीना या सिन्ना (गीली) कहलाता है और दूसरा भाग शूक अर्थात शुष्क (सूखा) । दोनों दलों के मुखिया में से एक 'शूक' या 'सीन' मांगता है और दूसरा उस पत्थरी को उछाल कर आकाश में फैंकता है । यदि मांगने वाले का भाग शूक/सीन भूमि पर ऊपर को पड़ता है तो वह जीत जाता है और खेल को पहले-पहल आरम्भ करने का श्रेय उसी दल को होता है । पैसों का सिक्का उछाल कर भी पार्टी 'हैड-टेल'

या चित-पट पर निश्चित करके फैसला करते हैं । पहले खेलने के लिए वृत्ताकार में खड़े होकर बच्चे एक दूसरे का हाथ पकड़ कर जोर से बोलते हैं—

"एक स्पाई, दो स्पाई,
तिजा बोले लैफट राई"

पद के अंतिम शब्द के समाप्त होते ही सभी खिलाड़ी अपनी अपनी हथेलियां पटकते हैं और साथियों का निर्णय या खेल के श्री गणेश का निर्णय उल्टी सीधी हथेलियों से लगाते हैं ।

सूरज की चका-चौंध, गोधूलि या गर्मी की ऋतु में रात को प्रांगण में खेले जाने वाले खेलों के अतिरिक्त अधिकांश छोटे-छोटे बच्चे शीत काल की लम्बी लम्बी रातों को बीताने के लिये खाना खाने के बाद अलाव या अंगीठी के पास एकत्र होकर नाना प्रकार के मनोरंजक खेल खेलते हैं । मनोरंजन के इन खेलों में हथेली और गुट्ठियों के खेल ही अधिकांश खेले जाते हैं । कभी हथेलियां उल्टी सीधी भूमि पर रख कर खेल खेलते हैं तो कभी कनिष्ठ अंगुली के बल पर पंजे को आसमान की ओर खड़ा करके खेल प्रारम्भ होते हैं । इन खेलों में अरका-मरका, इचक-मिचक, डब्बी भूरी, राजा-राजा आग दे चड़चड़ कूआं, बुझारते आदि प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते हैं ।

**इचक-मिचक :** अलाव के पास बच्चे बैठे और उन्होंने इचक-मिचक का खेल जमीन पर उलटी हथेलियों को रख कर शुरू कर दिया । एक बच्चे ने अपनी अंगुली से सब की मुट्ठियों पर गिनती शुरू की । गिनती का क्रम कुछ इस प्रकार है—

इचक-मिचक दण्ड किल-पक
लौंगा लाची, चनण चाटी
दे मेरा बटुआ दे मेरी डोर
डोरे मारे पांव में लाटी
शोरम-शोरे, पटके डोरे
कुंगु पाया, कुंगु लाया
आमण सामण बामण आया
राजा रामचन्द्र की जय ।

जिस हथेली पर जय का शब्द समाप्त हुआ कि हथेली आसमान की ओर पलट दी।

**तात्ती-तात्ती पूरी** : सभी बच्चों की हथेलियां पलट कर आसमान की ओर हैं। खेल खेलने वाला बच्चा खुली हथेली पर अपना हाथ उलट-पलट कर कहता है—

ताती ताती पूरी
घीऊ बिच चूरी
पकड़ बिल्ली दा कान

'कान' शब्द के समाप्त होते ही खुली हथेली वाला साथी दूसरे साथी का कान पकड़ता है और जब इसी क्रम को दुहराते हुए सभी एक दूसरे के कान पकड़ने के बाद जोर-जोर से चिल्लाते हैं—

"च्याऊं म्याऊं"
"च्याऊं म्याऊं"

च्यांऊ-म्यांऊ से कानों की खींचातानी तब तक चलती रहती है जब तक कान खींचते-खींचते किसी साथी की चीख नहीं निकलती !

**ओलू-बोलू** : च्यांऊ-म्याऊ से जी ऊब गया तो तुरन्त ओलू-बोलू का खेल शुरू हो गया। इस खेल में भी हथेलियों को जमीन पर उलटा रखा जाता है। खेल प्रारम्भ करने वाला बच्चा घड़ी की सुइयों के घूमने की प्रक्रिया में कुछ न कुछ गुनगुनाता हुआ गणना शुरू करता है। बालक खिलाड़ी की गणना कुछ इस प्रकार होती है—

"ओलू-बोलू -पहन कुड़े तू रन्ता चोल
ईल बैंठी आलणे
म्याणु बैंठेया तारा
लोए लोए खूंटिए
लोए तेरी ठण्डी
सात समुन्द खोज आई
रोपड़ दित्ती बन्दी
हिलो मेरे नोकर चाकर
हिलो मेरे भाई

मण्डिया दित्ता बाकरा
सकेता दित्ता धाई"

'धाई' के अंतिम शब्द पर हथेली पलट कर फिर से आसमान की ओर, और यह खेल उसी क्रम में निरन्तर तब तक चलता रहता है जब तक सभी की हथेलियां चित्त से पट नहीं हो जाती। यदि ऊना या कांगड़ा की ओर जायें तो वहां यही खेल दूसरे तरीके से खेला जाता है—

**अरका-मरका :** बच्चों की हथेलियां फिर से एक बार जमीन की ओर हैं और खेल कुछ इस प्रकार प्रारम्भ हो गया—

"अरका मरका छोले दाल
फुल फुलान्दी डाली दे
चिट्टी चादर अम्मा दी
निल्ला घोड़ा बापू दा
डब्बी भरी अनार दी
मैं कुड़ी सन्यार दी
डब्बी भरी तिलां दी
मैं कुड़ी बकीलां दी
डब्बी भरी धान दी
मैं कुड़ी प्रधान दी
आडे जेठे दिता जागरा
जेठानी उठी ठुम्ब

सभी हथेलियों के उलटने पलटने के बाद इसी गीत को खेल के साथ दूसरा साथी खिलाड़ी दुहराता ह।

**राजा राजा आग दे :** सर्दी की ऋतु है। स्वाभाविक है बच्चे सर्दी का अनुभव कर रहे हैं कि तभी अपनी अपनी मुट्ठियां एक दूसरे की बंद मुट्ठियों पर आकाश की ओर चुनते हैं। खेल खिलाने वाला बच्चा जमीन के साथ सटी हुई हथेली से अंगुलियों के मध्य गिनता हुआ प्रश्न सूचक मुद्रा में खेल को आगे आगे बढ़ाता है।

लड़का या खिलाड़ी—"राजा राजा आग दे"
(जिसकी मुट्ठी हो वह बोलेगा)

"हुबले बेहड़े जा"

खिलाड़ी— "राणी राणी आग दे"

"हुबले बेहड़े जा"

प्रश्नों का क्रम चलता रहता है—

"भंगी भंगी आग दे"
"हुबले बेहड़े जा"
"संतरी संतरी आग दे"
"हुबले बेहड़े जा"
"बुढ़िया बुढ़िया आग दे"
"हुबले बेहड़े जा"
"कुत्ता तो नि खांदा"
"फुल्का नि देणा तो खांदा"
"बबरू देणा तो दुम हलेयान्दा"

अंतिम मुट्ठी के छोर पर पहुंचा कि उसे कुत्तों ने काटना शुरू किया। सभी बच्चे 'भों, भों' करते हुए पहले उसे काटने का अभिनय करते हैं और फिर हंसते हैं।

**चड़चड़ कुंआ :** 'राजा-रानी' के खेल से जी ऊब गया तो 'चड़ेल' का खेल भी बच्चों का भरपूर मनोरंजन करता है। यह खेल एक दूसरे साथी को चिढ़ाने के लिए खेला जाता है। जिस पात्र को चिढ़ाना होता है उसे राजा, बजोर, मंत्री, संतरी की संज्ञा से विभाजित कर के उसे इस प्रकार चिढ़ाते हैं—

चढ़ चढ़ कुंआ, तेल पड़ूंवां
तेला दे माक्खिया
बजीरे चाक्खिया
चड़ चड़ कूंआ तेल पड़ूंवा
तेला दे माक्खिया
राजे चाक्खिया

चिढ़ने चिढ़ाने का यह खेल इसी प्रकार चलता है।

**लाड़ा-लाड़ी :** घर में यदि कोई नई नई शादी हो तो बच्चों को दुल्हन देखने का शौक होता है। विवाह की समस्त प्रक्रिया बच्चों के मस्तिष्क पर अंकित रहती है। फलतः गुड्डे-गुड्डिया के विधिवत विवाह का खेल रचाया जाता है, बारात के आने से दुल्हन के जाने तक। कभी कभार तो बच्चे बच्चियां बिस्तर में बैठे-बैठे, मां बाप या बड़े पारिवारिक सदस्यों की नजर बचा कर सिरों पर चादर ओढ़ कर 'लाड़ा-लाड़ी का खेल भी खेलते हैं।

**आंगल-पतांगल** : घर की चार दीवारी के भीतर ही बन्द कमरे से खेला जाने वाला यह खेल भी आज कल समाप्त हो गया है। आंगल-पतांगल खेल की अधूरी पंक्तियां कुछ इस प्रकार हैं—

आगंला पतांगला
पिढ़ेंयो मेरा जांगला।
पीपल रा पत्ता
हरा हरा दुपट्टा॥

**आटले-बाटले** : खेल के नाम को पढ़ने से ही मन में गुदगुदी सी होने लगती है। वास्तव में ही आटले-बाटले खेल गुदगुदी लगाने का ही मनोरंजन है। खेल प्रारम्भ करने से पहले एक पात्र दूसरे पात्र की हथेली अपने बांए हाथ से पकड़ता है और खुली हथेली पर गोल दायरे में अंगुली गुद गुदाता हुआ पूछता है :

"मेरे बाच्छु बणा दे जायी रे तैं तो नि दिक्खे ?
नहीं तो"
"आटले बाटले गोल गोल टाटले"
"तैं मेरे बाच्छु तो नहीं देखे ?
नहीं तो"

अब गुदगुदाने वाली अंगुलियां हथेली छोड़ कर हथेली से ऊपर बाजू के पास पशु खोजने लगती है गुदगुदाने वाला पात्र फ़िर प्रश्नवाचक मुद्रा में पूछने लगता है—

"आटले-बाटले, गोल गोल टाटले
तैं मेरे बाच्छु तो नि देखे ?"
"नहीं देखे"

गुदगुदाने वाले की अंगुलियां बाजु के ऊपर के भाग की ओर वक्ष के समीप बढ़ने लगी। प्रश्नों के भूल-

भुलैयां में ग्राखिर गुदगुदी लगा ही दी जाती है। गुदगुदाते समय गुदगुदाने वाला हर्ष के मारे चिल्लाता है—

"मिलिगे, मिलिगे
मेरे बाच्छु मिलिगे"

कितना ग्रानन्द है इस खेल में कि इस में दोनों ही पात्र जी भर कर हस लेते हैं। ग्रस्तु बच्चों ने खेलना तो है संवाद स्मरण रहे या न वे तो मन-गढ़न्त संवादों से भी काम चला लेते हैं।

**बुझारतें :** दूसरी खेलों से मन भर जाए तो बुझारतों का खेल शुरू हो जाता है बुझारतों के इस खेल में मनोरंजन के साथ साथ ज्ञानार्जन भी होता है। बुद्धि विकास का यह खेल ज्ञानप्रद होता है। यदि बुझारता समझ न ग्राए तो बुझारत बुझाने के लिए 'ग्रता-पता' पूछा जाता है। बुझारत बुझने वाला यदि हार जाए तो उत्तर के लिए बुझारत डालने वाले को मौखिक रूप से बड़े बड़े शहर दान करता! यदि एक पात्र को बुझारत समझ न ग्राई तो दूसरे पात्र ने कहा—

उठो-पुठो देओ जुगाला
जो न बुझो तेस रा मुंह काला

ग्रौर हार मानने पर गांव या शहर मिलने पर जीतने वाला दल कह उठता—

तेस गांवा दे आसे रसू-बसू
ऐसे बुझाणी ताक्खे दस्सूं

ग्रौर बुझारत बता कर ग्रानन्द लिया जाता है।

ग्राज यदि भूले बिसरे मनोरंजनों पर विहंगम दृष्टि डाली जाए तो पता चलता है कि जाने कितने मनोरंजन खेल लुप्त हो चुके हैं। ग्राज सांस्कृतिक परिवेश के इन खेलों को खतरा पैदा हो गया है। गांव दर गांव बाह्य मनोरंजनों द्वारा लोगों को ग्रपनी ग्रोर इतना ग्राकर्षित किया जा चुका कि वे सांस्कृतिक धरोहर में मिले हुए पुरातन खेल-मनोरंजनों के पास तक नहीं जाते। वैज्ञानिक प्रगति की दौड़ में हमारे पुरातन खेल मनोरंजन दम तोड़ रहे हैं। यदि हम ग्रपनी संस्कृति को ग्रमरत्व प्रदान करना चाहते हैं तो निश्चित ही हमें भूले बिसरे खेल मनोरंजनों की सुरक्षा करनी होगी ग्रन्यथा इन का समग्र ग्रस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

13/1 बालूगंज
शिमला

# बिलासपुर के लोकगीतों में समकालीन समस्याओं का चित्रण

□ डॉ. श्रीराम शर्मा

बिलासपुर जन जीवन में ऐसे बहुत से लोक गीत प्रचलित हैं जो कि समकालीन समस्याओं को यथार्थ रुप में चित्रित करते हैं। इस तरह के लोक गीत ऐतिहासिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अधिक महत्व पूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। बदलती हुई सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का इन गीतों में स्पष्ट रूप से वर्णन हुआ है। लोक साहित्य के इसी सामाजिक एवं नैतिक उच्चादर्श के विषय में स्व० लाला लाजपत राय ने अपने विचार इस तरह प्रस्तुत किए हैं, "किसी भी देश का यथार्थ इतिहास तथा नैतिक एवं सामाजिक उच्चादर्श लोक साहित्य में इस तरह अनुस्यूत रहते हैं कि इस अमूल्य साहित्य का ह्रास एक वास्तविक क्षति होगी"। इस कथन का अभिप्राय: है कि किसी स्थान एवं काल विशेष की ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण, राजनैतिक परिवर्तन तथा समाज के आदर्श लोक साहित्य के विविध रूपों में यथार्थ रूप में विद्यमान रहते हैं। बिलासपुर के लोक गीतों में इस तरह की समकालीन घटनाओं का वर्णन देखने को मिलता है।

समकालीन राजनैतिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित अनेक लोकगीत बिलासपुर क्षेत्र में प्रचलित हैं। 'फिरंगु' गीत इस तरह के गीतों में बहुत प्रसिद्ध है। फिरंगु शब्द 'फिरंगी' से बना है। फिरंगी ने जो आतंक तथा भय का वातावरण बना दिया था, उससे आतंकित होकर लोक मानस ने इस

गीत की रचना की। इस लोक गीत में तत्कालीन आतंक के साथ-साथ समाज में व्याप्त आज के क्रूर शोषण का भाव भी प्रकट होता है :

इनें बे फरंगुए कैहर मचाया—
ओ कैहर मचाया।
शिमले री सड़का जो,
स्पाटू लेई मलाया।
देस देवे दुहाईयां,
इनें बे फरंगुए कैहर मचाया—
जी ओ कैहर मचाया।

उपर्युक्त गीत का भावार्थ है कि अंग्रेजों ने हमारे देश को अपने अधीन करना शुरू कर दिया है। देश-वासियों पर अत्याचार हो रहे हैं। सड़कों के जाल बिछाने शुरू कर दिये गए हैं। सड़कों की अधिकता एवं यातायात के साधनों की सुगमता से अंग्रेजों को शासन करने में आसानी हो जाएगी। इसीलिए शिमला और स्पाटू को भी सड़क जाल द्वारा मिला दिया गया है। इन सारी घटनाओं और क्रिया-कलापों को लोक मानस ने शंका की दृष्टि से देखा है। इस लोक गीत में व्याप्त आतंक के भाव आज भी जन मानस में देखने को मिलते हैं जब उसका शोषण समाज के उच्च वर्ग के लोगों द्वारा किया जाता है। आज 'फिरंगु' का स्थान शोषक वर्ग ने ले लिया है। इस तरह से ऐतिहासिक समस्या समकालीन जीवन से जुड़ गई है।

चीन ने जब धोखे से भारत पर आक्रमण किया उस समय अनेक भारतीय सैनिक मारे गए थे। आज जब यह गीत सुना जाता है तो जन मानस एक बार फिर आतंकित हो उठता है :

सुत्यां न्यहृथ्यां पर हत्थ तैं चक्या,
देखदे जे ललकारी मन्ने लड़दा।
हत्था असां रे हुंदा जे कुछ बी,
फेरी तू भला किह्‌यां बह्‌दा।
असां रियां चौकियां, असां रा लाका,
असां रे ई घरा तैं मारेया डाका,
हुण किह्‌ां भोला बणदा।

उपर्युक्त लोक गीत में कहा गया है कि चीन ने भारत के निःशस्त्र एवं सोये हुए सिपाहियों पर धोखे से हमला किया। यदि चीन ने चुनौती देकर हमला किया होता तब वास्तव में उसकी बहादुरी का पता चलता। यदि भारतीय सिपाहियों के हाथों में शस्त्र होते तब चीन अपनी सीमा रेखा से आगे कभी भी नहीं बढ़ पाता। चीन ने हमारे ही इलाकों पर आक्रमण कर हमारे ही घर में डाका मारा है। डाका डालने और हमला करने के पश्चात् अब चीन अपने आपको निर्दोष सिद्ध कर रहा है।

हमले से पूर्व चीन ने भारत से मैत्री संधि की थी। भाई-भाई का नारा दिया था लेकिन अब पीठ में छूरा घोंप दिया :

मचले चीना तैं धोखा कित्या,
भाई बोली के हमला कित्या।
रिस्ता भाइयां रा पवितर था,
सै तैं काला कित्या।
पिछले पासे तोपां बन्दूकां,
आगे शान्ति री माला।

चीन ने भारत पर हमला कर धोखे बाजी का प्रमाण दिया। पहले भारत से मैत्री संधि की और भाई-भाई का नारा दिया लेकिन बाद में भाई-भाई के पवित्र सम्बन्ध को भी कलंकित कर दिया। चीन ने प्रत्यक्ष रूप से भारत के सामने शान्ति की माला रखी लेकिन चुपके-चुपके वह तोपें और बन्दूकें इकट्ठी करता रहा। यह लोक गीत आज भी व्यक्ति के बहु रूपों को यथार्थ रूप में सामने लाता है। आज भी समाज में अनेक व्यक्ति मिलते हैं जो कि मैत्री का छल कपट एव ढोंग रचते हैं और समय आने पर मित्रता का गला घोंट देते हैं। क्या समाज में व्याप्त धोखे, छल, कपट, ढोंग जैसी समकालीन समस्याओं पर इस तरह के लोक गीत कम प्रकाश डालते हैं।

चीन ने जब भारत के ऊपर आक्रमण कर ही दिया तो भारत के शूरवीरों ने पूरे उत्साह के साथ उसका मुकाबला किया। लाखों सैनिकों ने हंसते-हंसते देश की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बलि दे दी। भारतीय जवानों ने देश के लिए अपना सब कुछ अर्पित कर दिया। माताओं की गोदें खाली हो गई :

चीनां में लगी बमबारी,
पलटण जा रही सारी।

पेटा पकड़ी ने अम्मा जे रोवे.
गम नां कटेयां अम्मां,
पलटन आ रही सारी ।

भारत और चीन सीमा पर बम वर्षा शुरू हो गई है। भारत की सेनाएँ भी सीमा-सुरक्षा के लिए पहुंच रही है। ऐसा सुन कर सैनिक की मां रोने लग जाती है, तब सैनिक मां को समझा रहा है कि दुःख मनाने की कोई बात नहीं है, सारी की सारी सेना शीघ्र ही विजय प्राप्ति के पश्चात् वापिस लौट आयेगी ।

विलासपुर क्षेत्र में प्रचलित इस तरह के लोक गीत जो भारत और चीन के साथ हुए युद्धों पर प्रकाश डालते हैं, तत्कालीन आतंकों, युद्ध की विभीषिकाओं के साथ-साथ मानव समाज में शान्ति, एकता और सद्भावनामय वातावरण की आवश्यकता पर भी बल देते हैं। इन गीतों से व्याप्त भावों को ध्यान में रखते हुए आज व्यक्ति को अपनी समकालीन समस्याओं का समाधान ईमानदारी मैत्री एवं भाई चारे की भावना के साथ करना चाहिए ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में पंचायती राज की स्थापना की गई। गांव-गांव में पंचायतें बनाई गई। अनेक विकास योजनाएं शुरू की गई। सूखी पहाड़ियों पर पानी पहुंचाने की कोशिश की गई। ये योजनाएं कितनी और कहां तक सफल रही, एक अलग विषय है लेकिन जिस उत्साह के साथ शुरू की गई थीं, इस भाव को इस गीत से जाना जा सकता है :

गांव गांव पंचायत खुली
अनपढ़ बी मेंबर बणाए ।
सूखियां धारां पर टैंक बणाए,
बिना पाणि री जगहा च संचाई कराये ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जो प्रगति और खुशहाली होनी थी, उसका वर्णन इस गीत में हुआ है। ये दूसरी बात है कि योजनाएं बाकी रह गई प्रगति और खुशहाली करीब-करीब समाप्त हो चुकी है। गीत में कहा गया है कि गांव-गांव में स्कूलों की व्यवस्था की गई। सिंचाई योजनायें शुरू की गई और कृषि साधनों को जुटाया गया। सहकारी समितियों का निर्माण किया गया। ये नवीन योजनायें

लोक जीवन से प्रगतिशीलता के भावों का निर्माण करती है। लोगों में भविष्य के प्रति सुख-समृद्धि की आशा का भाव पैदा होता है। आज जब हम इन योजनाओं की ओर देखते हैं तो पता चलता है कि समस्यायें वहीं की वहीं हैं। इसीलिए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए नवीन योजनायें शुरू की जानी चाहिए ताकि वास्तव में प्रगति और खुशहाली आ सके।

बिलासपुर लोक जीवन में बहुत से ऐसे लोक गीत भी प्रचलित हैं जो कि प्रत्यक्ष रूप से समकालीन समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरण के लिए बिलासपुर के लोगों की पुर्नवास की समस्या—भाखड़ा नंगल बांध के निर्माण से बिलासपुर का सम्पूर्ण नगर जल मग्न हो गया। जलमग्न शहर का स्थान झील ने ले लिया। अनेक योजनाएं भी शुरू कर दीं। झील ने नये शहर के सौंदर्य में वृद्धि भी कर दी लेकिन लोगों की वास्तविक समस्याओं पर ध्यान कम ही दिया गया। पुरानी स्मृतियों एवं आधुनिक समस्याओं को लोक गीतों में मुखरित किया गया है।

बिलासपुर का पुराना शहर अब पानी में डूब गया है और गोबिंद सागर झील ने उसका स्थान ले लिया है। उसी पुराने शहर एवं अनेक दर्शनीय स्थानों की याद में अनेक लोक गीत जन जीवन में प्रचलित हो गए। सांडू का मैदान, रंग नाथ के मेले आज मात्र कहानी बन कर रह गए हैं लेकिन उनकी स्मृतियां लोक गीतों में अब भी लोगों के हृदयों में ताजा बनी हुई हैं :

भूली जायां दिलड़ुवाओ, टूटी रेया फुलड़ुवाओ—
घर थे पुराणें जित्थो हस्सेया रोया तूं,
हस्सी रोई कन्ने जित्थो बड़ा होया तूं,
भूली जायां दिलड़ुवाओ—
गलियां च पाणि जित्थी खेलां पाईयां तैं,
बड़ थी पुराणीं जित्थी पीहंगा पाईयां तैं,
टूटी रेया फुलड़ुवा ··· — ओ
सांडू रे मदाना झीला रा पाणि,
असां से नलवाड़ी हुण किति लाणि,
दस्सी देयां दिलड़ुवा ओ ··· ···।

उपर्युक्त गीत में कहा गया है कि जिन स्थानों पर हमने अपना बचपन हंस-खेल कर व्यतीत किया था, वहां अब पानी भर आया है। प्राचीन स्मृति एवं सुंदर स्थल केवल कहानी बन कर रह गए हैं।

भाखड़ा बांध का पानी जैसे-जैसे ऊपर चढ़ना शुरू हुआ, लोगों को अपने घरों के डूबने की चिन्ता हो गई। देश की प्रगति एवं समृद्धि की खातिर यहां के लोगों ने प्राचीन सम्पत्ति तक को बलिदान कर दिया। लोगों के घर-बार उजड़ गए अभी तक सही रूप में स्थापित नहीं हो सके :

भाखड़े सैहरा रा डक लोको,
पुज्या बिलासपुरा तक लोको ।
पाणि रियां लैहरां घुमदियां सारे,
उड़ दे छिट्टे चार किनारे ।
सैहरा रे बुढ़े-बुढ़ियां रोवे,
उजड़े जिन्हां रे घर बार लोको ।

भाखड़ा बांध का पानी कई प्रमुख स्थलों तक पहुंच गया। लोगों के घर-बार डूबने शुरू हो गए। लोग विपत्तियों और कठनाईयों से घिर गए। शहर के बड़े-बूढ़ों को घरों के डूबने की चिंता सताने लगी।

अब भाखड़ा बांध का पानी 'सेरी मातले' नामक स्थान पर पहुंच गया :

भाखड़े रा डैम लोको, चढ़ी गया सेरी मातले,
घर बार डुबी गए, लोकां जो पई गी विपता ।

एक और गीत प्रस्तुत है जिसमें बताया गया है कि गोबिंद सागर झील में लोगों के घर-बार प्राचीन सम्पत्ति, दर्शनीय स्थान तथा अनेक मन्दिर तक डूब गए। यहां के लोगों ने सब कुछ अर्पित कर दिया। उनको नये सिरे से जीवन शुरू करना पड़ा। न जाने उनका नया जीवन शुरू हो चुका है या नहीं। गीत इस तरह से है :

डूबी गये घर बार आई लो गया पाणि ··· ...
म्हारे बजुरगां री रखियां नसाणियां,
म्हारे ही सामणे बणियां कहानियां ।
ग्वाड़ू-स्वाड़ू मुके, मुक्के खुहां रा पाणि,
जिन्हां-जिन्हां गलियां च बापुये फराये,
अमा रिया गोदा च सैर करी आये ।

सांडू री नलबाड़ी, रंग नाथा रे मेले,
मुकी गए बेडी घाटा रे फेरे ।
लहेड़ा रे बागा री लिची कित्ती खाणि,
डूबो गये घर बार आये लो गया पाणि,
चल मेरी जिंदे नवीं दुनिया बसाणी

उपर्युक्त गीत का भावार्थ है कि गोविंद सागर झील में लोगों के घर-बार डूब गये। नये सिरे से अब दुनियां बसानी होगी। पुराने शहर, गलियां, मैदान, मन्दिर तथा बाग भी पानी में डूब गये। जिन स्थलों पर मेलों का आयोजन किया जाता था वे सुरम्य स्थल भी पानी में डूब गये। इस गीत के माध्यम से जहां एक ओर प्राचीन सम्पत्ति की याद आती है वहीं दूसरी ओर नये जीवन शुरू करने की समस्याओं से भी परिचय हो जाता है।

हालांकि बिलासपुर शहर के स्थान पर अब गोविंद सागर झील बन गई है। अपने प्राचीन इतिहास से भी लोगों का मोह कम नहीं हुआ है लेकिन इस झील का भी अपना एक मनोहर सौंदर्य है। यह झील अपने पूरे सौंदर्य के साथ अठखेलियां कर रही है। करुण स्मृति को भुलाने की कोशिश मे जन-मानस नौका विहार तक के लिए तैयार हो गया है :

पदरे मदाना झीला रा पाणि,
नालेयां रे नौणा पर किस्ती चलाणी ।

इस सौंदर्य से आकर्षित होकर दूर-दूर से पर्यटक आते हैं और झील में नौका विहार भी करते हैं। झील के साथ-साथ बंदला धार भी सौंदर्य में वृद्धि करती है। झील एवं बंदला धार की प्राकृतिक शोभा को निम्न गीत में व्यक्त किया गया है :

चढ़ी आया पाणि देखो, कुंगरे तां सांडूए,
झीला री करी लैणी सैर ··· ···
बंदले री धारे नीं तूं कजो सीधी खड़ुरी,
नपी कनें देखी ले तूं झोल केह्ड़ी भरूरी ।

चिट्टे चिट्टे बदला रा चादरू ओढ़ी ले,
लम्मा घूंड कड़ी ले ।

गोविंद सागर झील का पानी सांडू मैदान तथा कुंगर हट्टी तक पहुंच गया। इससे झील और भी आकर्षक हो गई। झील के साथ ही बंदला धार भी सफेद बादलों की चादर ओढ़े दुल्हन की भान्ति खड़ी है। इससे बिलासपुर क्षेत्र का सौंदर्य और अधिक बढ़ गया है।

बिलासपुर का जन जीवन अनेक कठिनाईयों एवं समस्याओं से ग्रस्त है फिर भी यहां के लोगों को इस स्थल से बहुत स्नेह है। इस स्नेह को कई लोक गीतों में देखा जा सकता है। इसका मुख्य कारण यहां की प्राकृतिक छटा है। यहां की सुरम्य प्राकृतिक छटा हर व्यक्ति का मन मोह लेती है। बिलासपुर के प्राकृतिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाला एक गीत व्यक्त है :

नीं मेरा बिलासपुर न्यारा,
डुग्गीयां नदियां तां छैल छैल गबरू ते बांकियां नारा,
चीं चीं चिड़ियां जे कर दियां ··· ···
उड़ी उड़ी डालियां ते बैठे,
बोल-बोल प्यारा—।
नीं मेरा बिलासपुर न्यारा।

बिलासपुर अपने में एक बिशेष प्राकृतिक सौंदर्य लिए हुए है। यहां की छोटी छोटी पहाड़ियां, गोबिंद सागर झील, उत्थली-गहरी नदियां एवं तीर्थ स्थल लोगों के लिए मुख्य आकर्षण हैं। प्राकृतिक सुरम्यता के अनुरूप ही यहां के नवयुवक एवं युवतियां भी अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं। चहकती हुई चिड़ियां यहां की प्रकृति को संगीतमय बना देती हैं। पक्षियों का मधुर कलरव मन को मोहने वाला होता है। इसलिए बिलासपुर क्षेत्रों से अलग है।

उपर्युक्त लोक गीतों के विवेचन एवं विश्लेषण के पश्चात कहा जा सकता है कि बिलासपुर जन पद में प्रचलित विभिन्न लोक गीत जहां एक ओर यहां के प्राकृतिक सौंदर्य, जन जीवन, सामाजिक चेतना एवं परम्परा को यथार्थ रूप में प्रतिबिंबित करते हैं वहीं दूसरी ओर यहां के ऐतिहासिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिवेश से भी परिचित करवाते हैं। इन गीतों में यहां की समकालीन समस्याओं को

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ प्रस्तुत किया गया हैं। इस समस्याओं का समाधान प्राचीन परंपराओं के अवलोकन के बिना नहीं किया जा सकता। यहां पर प्रचलित लोक गीत जो कि यहां की अमूल्य थाती है, उनके द्वारा जन जीवन के वास्तविक स्वरूप को जाना जा सकता है।

गोबिंद सागर भील का पानी सांडू मैदान तथा कुंगर हट्टी तक पहुंच गया। इससे झील और भी अधिक आकर्षक हो गई। झील के साथ ही बंदलाधार भी सफेद बादलों की चादर ओढ़े दुल्हन की भांति खड़ी है। इससे बिलासपुर क्षेत्र का सौन्दर्य और अधिक बढ़ गया है।

रिसर्च ऐसोशियेट,
हिन्दी विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्व विद्यालय,
शिमला-५

# गुज्जर जन जाति व उनकी बोली

□ केशव चन्द्र

हिमाचल प्रदेश में अनेक अनुसूचित जातियां व अनुसूचित जन-जातियां रहती हैं। अनुसूचित जन-जातियों में किन्नर अथवा किन्नौरे, लाहौला या लाहौले, गद्दी, लबाणें तथा गुज्जर आते हैं। इन जन-जातियों ने युगों से अपना खान-पान, वेश-भूषा, नाच-गाना और बोली अथवा भाषा सभी को विशिष्ट रूप में सुरक्षित रखा है। इस कारण हमारे प्रदेश की ये जन-जातियां प्राचीन संस्कृति के जीवंत प्रतीक है।

यहां हम गुज्जर जन-जाति व उसकी बोली की चर्चा करेंगे। गुज्जर जन-जाति में दो धर्मों को मानने वाले लोग आते हैं। एक हिन्दू व दूसरे मुसलमान। इस लेख में चम्बा जिला के अन्तर्गत आने वाले मुसलमान गुज्जरों व उनकी बोली की चर्चा ही है।

चम्बा जिला में मुसलमान गुज्जर चम्बा नगर के पूर्वी भाग में राख व उसके आसपास के गावों में उत्तर की ओर साहो व जडेरा के पंचायत-क्षेत्रों में तीसा तहसील में डलहौजी व खज्यार के आसपास स्थायी रूप में रहते हैं।

मुसलमान गुज्जरों का मुख्य व्यवसाय भैंसे व पशु पालना व उनका दूध बेचना है। परन्तु अब वे खेती-बाड़ी भी करते हैं और मक्की तथा गेहूं बीजते हैं। गांव के अन्य किसानों की तरह गुज्जर भी प्रकृति पर ही मुख्य-रूप से निर्भर हैं। इनकी अर्थ-व्यवस्था अधिकांशतः आत्म-निर्भर है। परन्तु वर्षों तक ऋतुओं की विपरीत-स्थिति प्रायः पूरे के पूरे समुदाय को शोकाकुल कर देती है। गरीबी का घेरा बढ़ने लगता है। चिंताओं की रेखायें जन-जन के चेहरों पर उभर आती हैं। पशुओं के पानी-चारे तक की समस्या भयंकर रूप धारण कर लेती है।

मुसलमान होने से गुज्जरों की इस्लाम में गहरी ग्रास्था है। इस्लाम की यह खूबी है कि इसको मानने वाले लोग पहाड़ों और बिहड़ों में रहने के बावजूद भी नमाज पढ़ने के लिए हर शुक्रवार को बड़ी संख्या में नियमित रूप से इकट्ठा होते हैं। इस प्रकार प्रति सप्ताह वे आपस में मिलते हैं और अपनी इबादत व पूजा के अलावा रोजमर्रा के जीवन व संस्कृति, राजनीति व विचार धारा पर भी बातें कर सकते है।

मुसलमान गुज्जरों में शराब पीने का व्यसन नहीं है। अतः हिन्दू शादी-ब्याहों के मुकाबले में इनकी ब्याह-शादियों में बहुत शांति व व्यवस्था होती है। इसी प्रकार मरण-संस्कारों में भी ये समूह में शोक मनाने इक्ट्ठे होते हैं।

इनमें एक प्रशसा योग्य बात यह भी है कि ये किसी भी संस्था, दल अथवा सगठन की बात सामूहिक रूप में बड़े सब्र व सजीदगी से सुनते हैं।

शादियां-ब्याह बहुत सादे होते हैं। दहेज लेने-देने की प्रथा नहीं है। तलाक वगैरा के लिए बड़ों की सभा का निर्णय मान्य होता है। किसी भी विवाह का हल इनकी अपनी जातीय पंचायत ही करती है। सरकारी न्यायालयों में इनके मामले प्रायः नहीं जाते। गुज्जर जन-जाति में शिक्षा-प्रसार की बहुत कमी है। पचीस-तीस हजार की सख्या में मैंट्रिक-पढ़े बच्चों की गिनती बीस भी नहीं है। एम. ए. तक शिक्षा प्राप्त तो मात्र एक युवक है। कुछ वर्ष पूर्व तक तो गुज्जर लोग घुमक्कड़-लोग थे। वैसी स्थिति में बच्चों को पढ़ाना सचमुच ही कठिन था परन्तु अब तो वह स्थिति नहीं है।

स्कूली शिक्षा की भले ही कमी हो परन्तु धार्मिक शिक्षा की ओर गुज्जर बहुत ध्यान देते हैं। इस कारण ये किसी भी पढ़े-लिखे से कम समझ नहीं रखते। इनमें राजनीतिक-चेतना का स्तर अन्य लोगों से कही ऊंचा है।

गुज्जर लोग शांति-प्रिय व धर्म-सहिष्णु हैं। बल्कि ये भावनात्मक रूप में आज भी अपने आपको हिन्दू ही समझते हैं। मुसलमान होकर, इस्लाम में विश्वास रखते हुए भी वे अक्सर बताते हैं कि उनके पुरखे चौहान राजपूत थे, भाटिया व चोपड़ा खत्री थे, ब्राह्मण थे, बनिये थे। कई सौ वर्षों के पठान व मुगल-राज्य के युगों में अनेकों हिंदू पशु-पालक कबीले सुरक्षा के विचार से मुसलमान बन गये थे क्योंकि उन्हें मुस्लिम राज्य-क्षेत्रों में अक्सर पशु लेकर जाना पड़ता था।

उससे भी पहले उनके पुरखों के हाथ में राज-सता थी— दिल्ली की, कन्नौज की, राजपुताना की, गुजरात की। अधिक शक्तिशाली लोगों ने सत्ता उनसे छीन ली-तो वे जान बचाने पहाड़ों की ओट में आये, धन्धा भी बदल दिया और स्वभाव भी।

गुज्जर जाति का इतिहास और भी अधिक पुराना है। यह जाति भी हाथ में शस्त्र धारण कर देश के बाद देश जीतने अपने मूल-स्थान गुर्जी से चल निकली जैसे कि यवन जाति निकली थी, शक निकले थे, हूण निकले थे, तुर्क निकले थे। राजा भोज जैसे राजा इसी जाति ने पैदा किये थे।

शानदार अतीत वाली एक लड़ाकू जाति जिसके हाथ में सत्ता तक रही, आज एक जन-जाति के रूप में शेष है। लेकिन इस पर चिंतित होने की बात नहीं है— जो कल तक महाराजा थे, उनके पुरखे आज पत्थर तोड़ते देखे जा सकते है। समय परिवर्तन शील है।

गुज्जर जन-जाति का राज पुताना से गहरा सम्बन्ध रहा है। इस बात का प्रमाण यह है कि इनकी बोली का, उच्चारण रूप मारवाड़ी बोली से आज भी आश्चर्य-जनक रूप से मिलता है। पंजाबी का भी इनके शब्दों के उच्चारण पर गहरा असर है। इनकी बोली के अधिकांश शब्द तो अब स्थानीय चम्बयाली बोली के हैं परन्तु प्राचीन काल से अनवरत प्रयोग में रहने के कारण कुछ न कुछ शब्द आज तक भी पुरानी गुर्जी भाषा के इसमें विद्यमान बताये जाते हैं। इतिहासकारों के अनुसार वह स्थान आज के सोवियत-संघ का जाजिया जन तंत्र है।

मारवाड़ी बोली के समान उच्चारण के कुछ उदाहरण :—

उन्न ने तम के बुलाया के नई ?

उन्होंने आपको बुलाया या नहीं।

थारों के नां है ? तुम्हारा क्या नाम है ?

थारा-तुम्हारा, म्हारो-हमारा।

सद्यो-बुलाया, बुलायो-बुलाया आदि शब्द व इनका उच्चारण राजस्थानी (मारवाड़ी) के समान है।

प्रहा - भ्रा - भाई, प्हैण - भैण - बहन, प्हेड़ - भेड़, प्हित - भित - द्वार, प्हाई - भाई। इन शब्दों के उच्चारण पर पंजाबी भाषा का पूरा प्रभाव है। इस प्रकार के अनेकों अन्य शब्द इसके प्रतिदिन के उपयोग में आते हैं।

## गुज्जरों की बोली में सर्वनाम

| हिन्दी | गोजरी | हिन्दी | गोजरी |
|---|---|---|---|
| मैं | मैं | मेरा | मेरो/मेरा |
| तू | तू | तेरा | तेरो/तेरा |
| | | हमारा | म्हारा/म्हारो |
| तुम, आप | तम | तुम्हारा | थारा/थ्हारा/थारो |
| वह | वा: (स्त्रीलिंग) | इसका/की | इसगा/गी |
| | वो: (पुलिंग) | उसका/की | उसगा/गी |

नोट : गोजरी में मेरा बहुबचन में प्रयुक्त होता है व तेरा भी। म्हारो व थारो का प्रयोग एकवचन में होता है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| वे | वे: | उनका/की | उन्नगा/गी |
| यह | यो: | हमें | हमरणा |
| ये | या: | तुम्हें | तमरणा |

## क्रियाओं का प्रयोग

### वर्तमान काल

| | |
|---|---|
| मैं जाता हूं। | मैं चल्यो वो हां। |
| | मैं जाऊं। |
| | मैं जाया करुआं। |
| हम जाते हैं। | हम जाया करां। |
| | हम चल्या वा आं। |

नोट : वर्तमान काल की क्रियाओं का पुलिंग व स्त्रीलिंग में प्रयोग एक समान है।

भूतकाल

| | |
|---|---|
| मैं गया/था | मैं गेयो थो। (पुलिंग) |
| मैं गयी/थी | मैं गई वी थी। (स्त्रीलिंग) |

भविष्य काल

| | |
|---|---|
| मैं जाऊंगा | मैं जाऊंगा। |
| मैंजाऊगी | मैं जाऊगी। |

विविध काल

| | |
|---|---|
| उसने तुम्हें बुलाया या नहीं ? | उसने तम बुलाया के नई ? |
| उन्होंने तुम्हें बुलाया या नहीं ? | उन्नने तम बुलाया के नई ? |
| तुम्हें कोई पता आया ? | तमणा कोई पतो आयो ? |
| हमें कोई पता नहीं आया। | हमणा कोई पतो नीं आयो। |
| इस तरफ बर्षा नहीं हुई। | इस बखी बदल नीं बरेहो। |
| मैं नहीं जाता। | मैं नई जातो। |
| हम नहीं जाते। | हम नीं जाता। |
| वह (लड़की) नहीं जाती। | वा नीं जाती। |
| हम जायेंगे। | हम जांगा। |
| वे जायेंगे। | वे: जैंहगा। |
| वे नहीं जातीं | वे नीं जाती। |

उसे यहा क्या काम है ? उसगो इत के कम्म है ?

उनको यहां क्या काम है ? उन्नगो इत के कम्म है ?

हमें नहीं बुलाया है । हम नीं हा सदेया वा ।

उसने हमें नहीं बुलाया । उसने हमरणा नीं सदेया वा ।

उन्होंने मुझे नहीं बुलाया । उन्नने मैं नीं सदेये/बुलाम्रो ।

आप क्या कर रहे हैं ? तम के करै कर ?

**कुछ शब्द**

| हिन्दी | गोजरी | |
|---|---|---|
| क्या | के | |
| कहां | कित | (बिशेष स्थान के लिए) |
| | किघा | (दिशा ज्ञान के लिए) |
| | किघे | (बहुबचन) |
| यहां | इत | (विशेष स्थान के लिए) |
| वहां | उत | (विशेष स्थान के लिए) |
| इस तरफ | इंघा/इंघे | (दिशा के लिए) |
| उस तरफ | उंघा/उंघे | (दिशा के लिए) |
| घर | डेरा* | |

नोट : गुज्जर जाति चूंकि घुमक्कड़ जाति रही अतः वह घर को हमेशा अस्थाई निवास (डेरा) ही मानती थी । आज भी गुज्जरों के घर कच्चे कोठों के रूप में ही अधिक हैं, वहां पर पशु भी साथ ही बांधे जाते हैं ।

| हिन्दी | गोजरी | हिन्दी | गोजरी |
| --- | --- | --- | --- |
| पशु | माल | भैंस | म्हैस |
| बैल | दांद | भेड़ | प्हेड़ |
| घोड़ा | क्होड़ों | भाई | प्हाई |
| पिता | बापू/बाबो | मां | अम्मा/अम्मी |
| लड़का | जागत* | बहिन | प्हैण |
| दरवाजा | बूहा/प्हीत | लड़की | कुड़ी |
| घास | घाह | नीचे | बून्ह |
| चटाई/पंद | फुहड़ी* | पेड़ | डाली/बूटो |
| सूर्य | दीह* | प्रातः | निक्की लोअो |
| रिश्ता | नातो | प्रातः | सरघी |
| एक खेत | खुम्बो* | अधिक खेत | खुम्बा* |

* इस चिन्ह वाले शब्दों का रूप स्थानीय बोली के शब्दों से भिन्न है। जार्जियाई भाषा में ये शब्द हल्के से अन्तर के साथ पाये जाते हैं।

मुसलमान गुज्जरों व हिन्दू गुज्जरों का मूल लगता है, एक ही है। परन्तु मुसलमान गुज्जरों में हिन्दू गुज्जरों का छोटा सा भाग ही गया होगा।

बोली का मूलाधार एक होने के बावजूद अब दोनों की बोलियों में भी अन्तर आगया है।

हमारे शोध कर्ता अगर इस संदर्भ में खोज करें तो बहुत सी दिलचस्प बातें प्रकाश में आ सकती हैं।

197/10 थनेहड़ा मुहल्ला
मण्डी (हि० प्र०) 175001

# आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान और तिब्बत का लामा धर्म

□ पी० एन० सेमवाल

दीपङ्कर श्रीज्ञान ग्यारहवीं सदी के मगध के प्रख्यात विद्यापीठ विक्रमशीला के प्रमुख आचार्य थे। इन्होंने तिब्बत में बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान के लिये अनुपम कार्य किया। वैसे कई भारतीय आचार्यों ने तिब्बत में जाकर धर्म प्रचार और भारतीय वांङ्मय का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया परन्तु इनके कार्य की तुलना किसी और से नहीं की जा सकती है। शुद्ध महायान सम्प्रदाय की जो सुदृढ़ नींव दीपकर श्रीज्ञान ने रखी उस पर आने वाली सदियों में भोट में समृद्ध बौद्ध विचारधारा और धार्मिक परिपाटी का विकास हुआ। भारत में तो दीपङ्कर श्रीज्ञान के साथ ही प्रबुद्ध और प्रेरणा-स्रोत बौद्ध आचार्यों की परम्परा अस्त हो गई। बारहवीं सदी में मुसलमान आक्रान्ताओं की विनाश-लीला ने बौद्धों के अन्तिम अवशेष चैत्य विहार एवं उनमें सुरक्षित सदियों पुरानी रखी पोथियां अग्नि के समर्पण कर दीं और यहां कुछ भी शेष न रहा—सिवाए खण्डर के। परन्तु हिमालय के उस पार तिब्बत में शाक्य मुनि की धर्म-ज्योति सदियों तक प्रज्वलित रही। ऐसा प्रतीत होता है जो ज्योति भारत में बुझी वह तिब्बत में अपनी पूर्ण गरिमा से जलती रही। इसका बहुत कुछ श्रेय दीपङ्कर श्रीज्ञान को ही है।

यह समीचीन होगा कि दीपङ्कर श्रीज्ञान जिनको तिब्बती लोग पदेन अतिशा कहते हैं, के वहां जाने से पहले बौद्ध धर्म की वहां क्या अवस्था थी, इसका संक्षेप में उल्लेख कर लिया जाय। सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तिब्बत में गुणवान् स्तोनचन् गम्पो का उदय हुआ। उसने नेपाल के राजा अंशु वर्मन की पुत्री भृकुटि और चीन की राजकुमारी वेनचेंग से विवाह किया। ये दोनों राजकुमारियां बौद्ध धर्म की अनुयाई थीं एवं वे अपने साथ अक्षोभ्य मैत्रेय और शाक्य मुनि की मूर्तियां लाई थीं। इनके लिये अलग-अलग मन्दिर बनाए गये और इस प्रकार तिब्बत में बौद्ध-धर्म

का श्रीगणेश हुआ। इस सम्राट ने कुछ युवकों को विद्याध्ययन के लिये भारत भेजा। उनमें से योनमिक सम्मोट नाम के मेधावी युवक ने ब्राह्मी लिपि के आधार पर तिब्बती लिपि का आविष्कार किया। इससे आने वाली सदियों में तिब्बत में बौद्ध-धर्म का ज्ञान लिपि-बद्ध होने लगा। स्तोन चन गम्पो के समय से इस धर्म को राज्याश्रय मिला और लगभग दो सौ वर्षों तक राज धर्म के रूप में फलता-फूलता रहा। आठवीं सदी के मध्य में भारतीय तांत्रिक पद्म सम्भव ने 'सामे' नामक स्थान पर प्रथम बौद्ध विहार की स्थापना की। यह विहार बंगाल के उद्दन्तपुरी के विहार की अनुकृति पर बनाया गया था। इसमें संस्कृत से तिब्बती में अनुवाद करने की उत्कृष्ट व्यवस्था थी। शान्ति रक्षित और उनके शिष्य कमलशील के मार्ग-प्रदर्शन में सैकड़ों भारतीय और तिब्बती पंडित इस कार्य को करते थे।

परन्तु तब भी बौद्ध धर्म को पुराने बौन सम्प्रदाय से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। नवीं सदी के आरम्भ में लङ्गदर्मा नाम का सम्राट गद्दी पर बैठा। वह बौद्धों का कट्टर शत्रु था और बौन सम्प्रदाय का पक्षधर था। उसने मूर्तियों को गढ़वा दिया, मन्दिरों पर ताले लगवा दिये और भिक्षुओं को गृहस्थ बनने के लिये विवश किया अन्यथा मरवा डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्य तिब्बत जिसको यू-सांग प्रदेश कहते थे में कोई भिक्षु देखने को नहीं मिला। लगभग सौ वर्ष तक ऐसी ही स्थिति रही। ऐसा प्रतीत होता था कि तिब्बत में बौद्ध धर्म लुप्त प्रायः हो गया था। इस आतंक से बचकर कुछ भिक्षु उत्तर-पूर्व मे अम्दो प्रदेश की ओर चले गये और कुछ भारत-नेपाल सीमा के साथ गूगे के प्रदेश में चले गये। वहां उन्होंने धर्म की ज्योति को संजोये रखा। तब तिब्बती बौद्ध-धर्म का सम्पर्क भारत और चीन से टूट चुका था। यह नये प्रवाह प्रेरणा और जीवन-दायिनी शक्ति से वंचित था।

ग्यारहवीं सदी तक पश्चिमी तिब्बत मे एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हो चुकी थी। इसके शासक श्रद्धालु बौद्ध थे पर धर्म के बारे में कोई स्पष्ट धारणायें नहीं थी। कई प्रकार के अन्धविश्वास धर्म के साथ जुड़ गये थे। राजा सेम्पो खोर श्रद्धालु बौद्ध थे। राज्य अपने पुत्र को सौंप कर स्वयं उन्होंने भिक्षु-पद की दीक्षा ली और परिव्रजा के बाद लामा यशेस ओड याने भिक्षु ज्ञानप्रभ कहलाये। उन्होंने २१ मेधावी युवकों को संस्कृत और बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए काश्मीर भेजा पर उन में से केवल दो ही जीवित वापिस आये। एक का नाम रिनछिन जिग्वो याने रत्न शील था। इसने पश्चिमी तिब्बत में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के लिए प्रशंसनीय कार्य किया और डेढ़-सौ से भी अधिक ग्रन्थों का भोट भाषा में अनुवाद किया। रत्न शील ने थोलिंग में पहले बौद्ध मन्दिर का निर्माण कराया।

भिक्षु ज्ञानप्रभ को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उनकी तो धर्म की व्याख्या और उसके वास्तविक स्वरूप की किसी भारतीय आचार्य के मुख से सुनने की उत्कट इच्छा थी। दीपंकर श्रीज्ञान का नाम उन्होंने सुना था। वे उस युग के प्रकाण्ड पंडित थे। अतः भिक्षु ज्ञान प्रभ ने ग्या सोंन सेग नाम के युवक को जो संस्कृत का ज्ञाता था कुछ सोना और मार्ग के लिए कुछ रक्षक देकर दीपङ्कर श्रीज्ञान को विक्रमशीला से लेने के लिए भेजा। आचार्य को सोना भेंट कर तिब्बती युवक ने ज्ञानप्रभ की प्रार्थना सुनाई। पर आचार्य ने सोना वापिस कर दिया और यह कह कर कि भारत में भी बौद्ध धर्म पतनोन्मुख है और मेरे ऊपर सारे बिहार का बोझ है, तिब्बत जाने की असमर्थता व्यक्त की। ग्या सोनसेंग ने थोलिंग वापिस पहुंच कर भिक्षु ज्ञानप्रभ को यह बात सुनाई और स्वयं विद्याध्ययन के लिए विक्रमशीला वापिस चला गया। ज्ञानप्रभ ने अनुमान लगाया कि उपहार के लिए सोना कम था इसलिए आचार्य आने को तैयार नहीं हुए। अतः वे उत्तर-पश्चिमी दिशा की ओर सोना एकत्र करने गये; परन्तु यह प्रदेश यवन शासक का था। उसने लामा ज्ञान प्रभ को कैद करा लिया। और कहा कि अपने शरीर के वजन के बराबर सोना देने से मुक्ति मिल सकती है। उनके पुत्र बोधिप्रभ को जब पता लगा तो वे कुछ सोना लेकर अपने पिता को छुड़ाने गया। परन्तु सोना पूरा नहीं था। ज्ञानप्रभ की मुक्ति नहीं हो सकी। कारावास में ज्ञानप्रभ ने अपने पुत्र को समझाया कि अब मैं वृद्ध हो गया हूँ। थोड़े दिन का मेरा जीवन है, यह सोना मेरे लिए मत खर्च करो, इस सोने से फिर एक बार दीपङ्कर श्री ज्ञान को बुलाने का पुण्य कार्य करो। कारावास के कष्ट और वृद्धावस्था से थोड़े दिनों में ज्ञानप्रभ की मृत्यु हो गई। उनके पुत्र ने अपने पिता की इच्छानुसार एक दल फिर विक्रमशीला भेजा।

इस बार नागसा नामक युवक को नेपाल सीमा से बुलाकर, उसका भव्य स्वागत किया गया और अपने से ऊंचे आसन पर बिठाकर उससे प्रार्थना की कि तुम भारत की भाषा (संस्कृत) जानते हो एवं रास्ते का भी आपको पता है और उस देश की गर्मी से भी आप अभ्यस्त हैं। बोधिप्रभ ने सारी कहानी नागसो को सुनाई और आर्द्र होकर दीपङ्कर श्री ज्ञान को लाने का आग्रह किया।

विक्रमशीला पहुंचने पर यह दल पहले ग्या सोनसेंन नाम के तिब्बती युवक को मिला जो वहां विद्याध्ययन कर रहा था। उसके माध्यम से नागसो दीपङ्कर श्रीज्ञान को मिला। शिष्टाचार के अनुसार उनके सम्मुख सोना रखकर नागसो ने ज्ञानप्रभ के कारावास में मृत्यु और उसकी अन्तिम इच्छा की करुण कथा सुनाई। श्री ज्ञान भाव-विह्वल होकर बोले, "निःसन्देह ज्ञानप्रभ एक बौद्धिसत्व थे क्योंकि धर्म के लिए उन्होंने अपने प्राणों का विर्जन किया। मैं उनकी इच्छा को पूरा करुंगा।

परन्तु मेरे ऊपर यहां १०८ मन्दिरों का कार्य-भार है और दूसरे कई दायित्व हैं। इनकी व्यवस्था करने में मुझे डेढ़ वर्ष लगेगा।

सन् १०४० में ५८ वर्ष की आयु में नेपाल के मार्ग से उन्होंने प्रस्थान किया। नागसो द्वारा भेंट किये गये सोने में से एक चौथाई भाग उन्होंने पण्डितों को दिया, दूसरे चतुर्थ भाग को बोद्ध गया में व्रजासन में पूजा के लिए दिया। तीसरे चतुर्थांश को रत्नाकर शान्तिपाद को दिया और शेष को विभिन्न धार्मिक कृत्यों को कराने के लिए राजा को दे दिया। तिब्बतियों के अतिरिक्त उनके दल में आचार्य के २४ शिष्य भी थे। कुछ समय वे नेपाल नरेश के अतिथि रहे। १०४१ में वे थोलिग के मठ में पहुंचे। वहां उन का भव्य स्वागत हुआ।

तीन वर्ष तक श्री ज्ञान पश्चिमी तिब्बत में रहे। कई स्थानों पर उन्होंने उपदेश दिये और जो भ्रम, विवाद अस्पष्टता सिद्धान्तों और धर्म-नियमों के बारे फैली थी उनका निराकरण किया और तिब्बती अनुवादों का पुनरावलोकन किया। तिब्बती विद्वान रिनछिन जिंगवो (रत्नशील) की अध्यक्षता में ९७८ ई. से भारतीय संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों का व्यापक कार्यक्रम थोलिंग मठ में चला हुआ था, उसका आचार्य ने मार्ग-प्रदर्शन किया। कई लोगों को उन्होंने भिक्षु पद की दिक्षा दी। आचार्य के हाथों भिक्षुपद की दीक्षा लेना गौरव की बात समझी जाती थी। तिब्बती परम्परा के अनुसार भिक्षु पद की दीक्षा देने का अधिकार उन्हीं को था जिनकी गुरु-शिष्य परम्परा गौतम बुद्ध तक जानी जाती हो। इसीलिए उस जमाने के भिक्षु अपनी गुरु-परम्परा का वंश-वृक्ष (Chronology) रखते थे।

ऊं-सांग प्रदेश जिसको मध्य तिब्बत भी कहते हैं। उसका निवासी ड्रोनट्रोन्पा आचार्य से दीक्षा लेने आया और उनका परम भक्त बन गया। ड्रोनटोन्पा छाया की तरह जीवन पर्यन्त आचार्य के साथ रहा। उसने आचार्य से सांग प्रदेश में जाने का आग्रह किया। उस जमाने में इस प्रदेश में कई छोटे-छोटे लामा सामन्त थे। थे तो वे भिक्षु पर अपने-अपने इलाके पर शासन भी करते थे। सांग प्रदेश में एक स्थान पर लामाओं का एक दल अपने पूरे वैभव के साथ आचार्य का स्वागत करने आया। उन्होंने ड्रोन-टोन्पा से पूछा ये कौन हैं? उत्तर मिला ये भिक्षु हैं। आचार्य ने कहा जब यहां इतने भिक्षु हैं तो मेरी क्या आवश्यकता है। पर जब वे नजदीक आये तो उनकी चमक-दमक, बहुमूल्य वस्त्र और रत्न-जड़ित आभूषणों को देख आचार्य चकित रह गये। तब उन्हें आभास हुआ कि इन लोगों का शाक्य मुनि के अपरिग्रह सम्बन्धी उपदेशों की

नितान्त आवश्यकता है। दस वर्ष तक आचार्य इस प्रदेश में भ्रमण करते रहे और लोगों को भिक्षुपद की दीक्षा देते रहे। उन्होंने कई पुस्तकें और काव्य लिखे। गृहस्थों को पांचशील और भिक्षुओं को दस शील पालन करने का उपदेश देते रहे। अपने जीवन के अन्तिम तीन वर्ष उन्होंने ल्हासा के निकट नेथङ्ग में बिताए और १०५४ ई० में ७३ वर्ष की आयु में वहीं पर निर्वाण पाया। द्रोन-टोन्पा ने उनके विचारों और सिद्धान्तों की परम्परा को जारी रखा और 'कदम्पा' नाम के नये सम्प्रदाय की स्थापना की। शुद्ध महायान के सिद्धान्तों पर आधारित होने से यह नाम इस सम्प्रदाय को दिया गया और रूढ़िवादी बौद्धों को 'जिङ्ग मापा' नाम दिया गया। वे मूलतः पद्म सम्भव की परम्परा को मानने वाले थे।

आचार्य ने थोलिंग में रहते हुये संस्कृत में बोधि प्रदीप नाम के ग्रन्थ को लिखा। इसका तिब्बती नाम 'छंग-छुप-लम्वग डोनमे' है। नाकसो ने शीलकार को वचन दिया था कि तीन वर्ष की अवधि के उपरान्त वह आचार्य को वापिस भारत भेज देंगे। जब वे नेपाल के सीमान्त पर पहुंचे तो मालूम हुआ कि यवनों के आक्रमण के कारण भारत पहुंचना कठिन है। कदाचित यह समय वह था जब मुहम्मद गजनी की मृत्यु हो गई थी (१०३० ई.) इसके लगभग एक दशक बाद उत्तरी भारत के राजा-महाराजे कांगड़ा, हांसी आदि से यवनों को निष्कासित कर रहे थे। जब आचार्य को पता चला कि भारत में अशान्ति है और मार्ग सुरक्षित नहीं है तो वे द्रोन-टोन्पा के साथ मध्य तिब्बत को चले गये और वहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष वर्ष बिताए।

पन्द्रहवीं सदी के प्रथम चरण में एक महान सुधारवादी सन्त का उदय हुआ। उसका नाम सोनखपा था। उसने दीङ्कर श्रीज्ञान की परम्परा को आगे बढ़ाया और बौद्ध संघो के सुधार और परिष्कार का नया आन्दोलन चलाया। उसने ग्यदेन सेरा और डेपङ्ग के भव्य विहारों की स्थापना की। ये विहार नालन्दा और विक्रमशीला के विहारों की भान्ति बनाये गये थे। इनमें तिब्बत, चीन, मंगोलिया और मध्य एशिया के हजारों भिक्षु और विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इन्हीं विहारों में मध्य युग में तिब्बत की कला, संस्कृति और अध्यात्मवाद का विकास हुआ। सोनखपा की परम्परा में ग्यालुक्पा, पीली टोपी वाले लामाओं के सम्प्रदाय का जन्म हुआ और इसी सम्प्रदाय में पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में दलाई लामाओं का आविर्भाव हुआ।

दीङ्कर श्री ज्ञान के समान तिब्बत जाने वाले उद्भट्ट विद्वानों की संख्या तो इनीगिनी है; पर वहां जाने वाने सामान्य पण्डितों गिनती नहीं है। बारहवीं सदी में जब मुसलमानों ने

आक्रमण किया तो उन्होंने विहारों और मठों को ध्वस्त किया । तब मगध और उसके आस-पास से पता नहीं कितने बौद्ध भिक्षु अपनी बची हुई पोथियों को लेकर नेपाल और तिब्बत की ओर गाये । इसीलिए यह आश्चर्यजनक बात है कि सदियों तक भारत में बौद्ध साहित्य का सृजन होता रहा, पर अब एक ग्रन्थ "मंजु श्री मूल कल्प" को छोड़ कर बौद्ध धर्म सम्बन्धी एक भी रचना भारत की सीमा के अन्दर प्राप्त नहीं । अश्वघोष का बुद्ध चरित जो धार्मिक ग्रन्थ न होकर काव्य की कोटि में आता है वह भी अपूर्ण पाया जाता है । तिब्बती और चीनी अनुवादों में इसके २८ सर्ग हैं, परन्तु भारत में प्राप्य मूल काव्य में केवल १७ सर्ग हैं । उधर तिब्बत में तंग्युर और कंग्युर में ४५६६ मूल भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद हैं । यह तिब्बत जाने वाले भारतीय पण्डितों और तिब्बती अनुवादकों का वृहत् कार्य है । एकसमय था जब तिब्बत के सम्पन्न परिवार और सामन्त भिक्षु भारत से पण्डितों को बुलाने मे अपना गौरव समझते थे । इसके लिए उनमें होड़ होती थी । समस्या दुभाषाए की थी अन्यथा ये पण्डित गूंगे के समान थे ।

सेमवाल सदन
इंजनघर, संजौली
शिमला-171009

# चम्बा के भरमौर क्षेत्र में सहयोगी-प्रथाओं का प्रचलन

□ अमरसिंह रणपतिया

भरमौर जन-जातीय क्षेत्र ने अपनी विशेष संस्कृति को अब तक संजोये रखा है। जहां एक ओर इस समय तक काम-काजी-उद्योगी और कलाकार संस्थाएं सक्रिय रूप से अपनी भूमिका निभा रही हैं वहां सहयोगी प्रथाएं अबाध गति से क्रियाशील हैं जिस से आर्थिक और सामाजिक ढांचा सशक्त और सुदृढ़ बना हुआ है। भले ही इन प्रथाओं और संस्थाओं में आधुनिक सुख-सुविधा के कारण कुछ शिथिलता आ गई हो लेकिन फिर भी कई प्रथाएं बेरोक-टोक क्रियाशील हैं।

विवाह के समय कुछ उपयोगी सहयोगी प्रथाओं का प्रचलन है। विवाह-संस्कार को जब थोड़े ही दिन रह जाते हैं, उस समय आस-पास के गांव के सगे सम्बन्धियों से आग्रह किया जाता है कि जुटाए सामान को घर पहुंचायें। बाजार में क्रय की गई सामग्री को सहयोग के द्वारा ही घर पहुंचाया जाता है

भरमौर के कई स्थानों पर आटा पीसने की पन-चक्कियां (घराट) दूर-दूर हैं। यातायात का साधन सुलभ न होने के कारण आटा मनुष्य द्वारा पीठ पर उठा कर दूर-दूर पहुंचाना पड़ता है। भरमौर के कई क्षेत्रों में विवाह उत्सव पर यह कार्य गांव निवासियों के सहयोग से किया जाता है। इस प्रथा को "मात्रा-पीसणा" की संज्ञा दी जाती है। एक निश्चित दिन सभी पड़ौसी एकत्रित होकर सामूहिक रूप से किसी पन चक्की में जा कर मक्की पीस कर घर पहुंचाते हैं। उस दिन सभी को सादा सहभोज दिया जाता है। यह आटा विवाह उत्सव के समय उपयोग में लाया जाता है।

इसी प्रकार ज्योतिषी द्वारा निश्चित किए दिन विवाह-संस्कार में प्रयोग होने वाली रसोई के लिए सामूहिक तौर पर लकड़ी काटी जाती है। इसे चम्बा के अधिकांश क्षेत्र में 'छोईपाणा' कहा जाता है। इस क्षेत्र में भी इसे 'छोई संज्ञा' दी जाती है। सभी सहयोगी-जन इस दिन वृक्ष काट कर लकड़ी एकत्रित कर लेते हैं। यह विवाह-संस्कार का प्रथम शुभ-सोपान समझा जाता है।

विवाह निभाने के लिए कुछ प्रथायें ऐसी भी हैं जो आर्थिक ढांचे से सम्बद्ध हैं इन में 'चड्ड', 'सुआज', 'छक', 'तमोल' और 'लुढ़ेक' हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :—

**चड्ड**—कुछ परिवार विवाह का खर्च एकदम उठाने में असमर्थ होते हैं। वे अपने सहयोगियों से थोड़ा-थोड़ा अन्न इकट्ठा कर लेते हैं। इस अन्न की मात्रा 'मन' या 'दो मन' प्रति परिवार भी हो सकती है। इस एकत्रित अन्न को विवाह के समय प्रयोग में लाया जाता है तथा उन परिवारों में विवाह होने पर उन्हें उसी माप या तोल में वापस कर देना होता है। इसे 'चड्ड' प्रथा कहा जाता है अतः इस में किसी प्रकार की सामाजिक हीनता की भावना वांछित नहीं।

**लुढ़ेक**—'लुढ़ेक' प्रथा चम्बा के कई क्षेत्रों में प्रचलित है। जब गांव या क्षेत्र में लड़के या लड़की का विवाह आयोजित होता है उस समय उस परिवार के सहयोगी जन लड़के या लड़की को पकवान या अन्य खाद्य पदार्थ ले आते हैं इस प्रथा को 'लुढ़ेक' प्रथा कहते हैं। सरमौर के क्षेत्र में भी यह प्रथा प्रचलित है। उस परिवार से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वह भी इसी प्रकार सहयोगी परिवार से विवाह होने पर सहयोग करें। कच्चे चावल इत्यादि प्राप्त होने पर हिसाब-किताब रखा जाता है ताकि उस प्राप्त अन्न को उसी रूप में उनके विवाह होने पर वापस किया जाए। इस प्रकार इस प्रथा के अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा में पक्का और कच्चा अन्न प्राप्त होता है जिसे विवाह के समय उपयोग में लाया जा सकता है।

**छक्क**—अन्य क्षेत्रों की तरह यहां भी यह प्रथा प्रचलित है। 'छक' का अर्थ विवाह के समय भोजन परोसने से है। विवाह होने पर यह अपेक्षा की जाती है कि लड़के या लड़की के मामा विवाह के समय एक भोज देने का सहयोग करें अतः विवाह के समय वर या वधू पक्ष के मामा एक सहभोज का आयोजन करवाते हैं जिस से सम्बन्धित विवाह पक्ष का बोझ हल्का हो जाता है।

**सुआज**—'सुआज' का अर्थ वधू पक्ष से दी जाने वाली वस्तुओं या धन से है। हर सहयोगी-परिवार वधू को अपनी श्रद्धा अनुसार कुछ वस्तु या पैसा देना अपना कर्त्तव्य समझता है। विवाह पक्ष वाला परिवार इन वस्तुओं का हिसाब-किताब रखता है ताकि उन परिवार में कन्या का विवाह होने पर उन्हें भी इसी प्रकार का 'सुआज' दिया जाय। इस प्रकार एकत्रित वस्तुओं और धन को लड़की को दे दिया जाता है।

**तामूल**—तामूल प्रथा कई स्थानों पर प्रचलित है। यह प्रथा लड़के के विवाह पर प्रचलित है। लड़के को उसके सहयोगी-जन कुछ कपड़े या पैसे देते हैं। इसे स्थानीय लोग 'तमोल' कहते हैं। इस का भी हिसाब-किताब रखा जाता है ताकि उनके घर लड़के का विवाह होने पर इसी प्रकार का 'तमोल' दिया जाए। इस प्रकार एकत्रित धन और कपड़े विवाह के समय काम आते हैं। इस प्रकार विवाह पर होने

वाले व्यय में हाथ बंटाया जाता है। यह प्रथा लेन-देन पर आधारित है। विवाह के समय अन्य प्रथाओं के साथ-साथ सभी काम सहयोग से किए जाते हैं। यहां तक कि रसोई बनाना और खाना परोसने का काम भी सहयोग से ही किया जाता है। इस प्रकार विवाह-आयोजन सम्बन्धित परिवार द्वारा बोझ नहीं समझा जाता है।

इसी प्रकार 'नवाला' उत्सव को निभाने के लिए नवाला आरम्भ होने से पूर्व 'नवाला' उत्सव की सफलता के लिए 'नौ' व्यक्तियों की एक टोली आयोजित की जाती है जिस में योगी और 'चेला' के अतिरिक्त 'कटबाल' और 'बटवाल' नामक दो आयोजक भी नियुक्त किए जाते हैं। जो 'नवाला' उत्सव को सफल बनाने में हाथ बंटाते हैं। किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो उस समय वही माध्यम समझे जाते हैं। इनका कार्य भी पूर्णतया सहयोगी समझा जाता है।

**गृह निर्माण और सहयोगी प्रथाएं**—गृह-कार्य विभिन्न सोपानों पर आधारित होता है। घर के लिए इमारती लकड़ी एकत्रित करना मुख्य कार्य होता है। यह कार्य अकेले करना असम्भव होता है। कई स्थानों पर तो जंगल समीप हैं परन्तु कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहां इमारती लकड़ी पहुंचाना कठिन कार्य है। घर के लिए कुछ शहतीर ऐसे डाले जाते हैं जिन्हें चालीस-पच्चास व्यक्ति कठिनाई से घसीट कर लाते हैं जिसके लिए अकेले कार्य करना असम्भव होता है अतः ऐसे कार्य को सहयोग से ही किया जाता है। इस प्रथा को 'न्हासोती' की संज्ञा दी जाती है। 'न्हास' का अर्थ ऐसे शहतीर से है जो तीस-चालीस फुट लम्बा होता है। मोटाई में आठ-दस इंच से कम नहीं होता। इस प्रकार तीन-मंजिले मकान को पांच-छः ऐसे शहतीरों की आवश्यकता पड़ती है। बर्फ अधिक पड़ती है अतः इसी प्रकार के मोटे और लम्बे शहतीरों का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है।

ऊपरी छत के लिए मोटे सलेट डाले जाते हैं। उन्हें भी सहयोग से ही ढोया जाता है और उन्हें छत पर बिछाया जाता है। घर बनाने के लिए कुछ अन्य प्रकार की छोटी लकड़ी और पत्थर भी सहयोगी-प्रथाओं द्वारा ढोए जाते हैं।

यदि किसी की भूमि बंजर पड़ी है और वह उसे फसल लगाने के लिए आबाद कराना चाहे तो सहयोग की अपेक्षा की जाती है। इस प्रथा को लोग 'उखट' संज्ञा देते हैं। 'उखट' या 'उषट' का अर्थ नई जमीन तैयार करने से ही है। एक ही दिन में ४०/५० आदमी बंजर भूमि को खोदकर फसल लगाने योग्य बना देते हैं।

**फसलों के कार्य में सहयोग**—फसल लगाने के कार्य में भी सहयोगी-प्रथाएं अपनी भूमिका निभाती हैं। यह सहयोग कभी-कभी खेत बोते समय काम में लाया जाता है। मक्की की गुड़ाई के समय भी कई स्थानों पर सहयोगी प्रथाएं काम करती हैं इस प्रथा को 'निदारी' की संज्ञा दी जाती हैं। एक के खेत गुड़ने के बाद दूसरे के खेतों में सामूहिक रूप से काम किया जाता है। गद्दी-क्षेत्र के बस्सु, पियूहर, गूं, बेल्ज और लिल्ह जैसे इलाकों में घास की ढलानें हैं अतः वहां एक-एक करके हर परिवार में सामूहिक रूप से घास काटने की प्रथा प्रचलित है। इस सहयोगी प्रथा को 'घाल्ली' के नाम से पुकारा जाता हैं। एक दिन तीस-चालीस व्यक्ति एक परिवार के घास को काटकर इकट्ठा कर देते हैं तो दूसरे दिन दूसरे परिवार का रात को 'ऐंचली' लोकगीतों से मनोरंजन कार्यक्रम होता है। इस प्रकार मनोरंजन और कार्य दोनों क्रियाएं चलती हैं। हर्ष और उल्लास के वातावरण में ढेर सारा कार्य समाप्त होता है। 'घुरेही' और अन्य लोकगीतों से सारी घाटी गूंज उठती है। इसी प्रकार का मनोरंजन और कार्य 'धानी' क्षेत्र में 'रूहणी' (धान लगाने का कार्य) के समय देखने को मिलता है। भरमौर क्षेत्र में 'धानी' जमीन नहीं है अतः रूहणी की सहयोगी प्रथा का वर्णन यहां परिहार्य है। इसी प्रकार मक्की कूटने का कार्य भी मिल कर किया जाता है। यही नहीं यदि किसी परिवार का सदस्य बीमार पड़ जाए तो उस की फसल को सहयोग से बोया या तैयार किया जाता है। उसकी फसल को इकट्ठा भी सहयोग से ही किया जाता है।

**मृत्यु संस्कार के समय सहयोग**—किसी परिवार में मृत्यु होने पर उसके दुःख में शरीक होने के लिए उसके गांव वासी और सहयोगी हाथ बंटाते हैं। एक प्रथा के तौर पर 'क्रिया' संस्कार से पहले हर परिवार अफसोस करने भी आता है तथा थोड़ा सा अन्न अपने साथ लेकर संतप्त परिवार के यहां छोड़ आता है ताकि वह परिवार मुसीबत के समय संस्कार के लिए उस अन्न का प्रयोग कर सके। इस प्रथा को 'बरतण दीणा' प्रथा से जाना जाता है। मृत व्यक्ति पर कपड़ा डालना और कुछ सहानुभूति के तौर पर पैसे देने की प्रथा को 'टल्लु पाणा' की प्रथा कहा जाता है।

उपरोक्त प्रथाओं में कई प्रथाएं हिमाचल के अन्य स्थानों पर भी प्रचलित हैं पर जन जातीय क्षेत्र भरमौर में इन प्रथाओं की अपनी विशेषता है।

प्रधानाध्यापक,
रा० उ० विद्यालय
गूआं डाक० प्रींणा वाया मैंहला
ज़िला चम्बा (हि० प्र०)

# लोक आस्था का प्रतीक डूघानाल् सिद्ध बाबा बालक नाथ

□ मोतीलाल घड़

प्राकृतिक सुषमा से परिपूर्ण समस्त हिमाचल को यहां का प्रत्येक निवासी देवधरा कहने में स्वयं को बड़ा गौरवान्वित समझता है। यहां का प्रत्येक ग्राम, पर्वतशिखर, घाटी, नदी नाला, वृक्ष किसी न किसी देवता, ऋषि-मुनि, सिद्ध-योगी, यक्ष-किन्नर, शिव-शक्ति, विष्णु नारायण, नाग आदि कई जातियों के निवास स्थल रहे हैं। इनका प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यहां की जनता के मानसिक जगत पर परिलक्षित होता रहता है। फलतः ये इनके प्रिय इष्ट, कुल देवता, कुल परोहित, पूजनीय और श्रद्धा के पात्र बन चुके हैं। युगों से यह परम्परा चली आ रही है और चलती रहेगी। जन-जीवन पर इनकी छाप अमिट है। यहां का लोक मानस सहिष्णुता, धर्म निष्ठा, सौजन्यता, समदर्शिता और निष्कपटता आदि की भावनाओं से ओत-प्रोत है। देवी-देवताओं के ऊपर उनके दृढ़ विश्वास की झलक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। उनके इस विश्वास को किसी भी प्रकार से डिगाया नहीं जा सकता। कोई भी कार्य इनके बगैर सम्पन्न नहीं हो सकता। जन्म-मरण, विवाह-शादी, खेती बाड़ी, उत्सव-त्यौहार, हारी बीमारी आदि सभी कुछ इन्हीं देवताओं से जुड़ा है। जरा सा संकट आने पर या कार्य में विघ्न पड़ने पर वे इन्हीं दैविक शक्तियों का प्रकोप मानकर इनकी शरण में जाना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। कार्य के निर्विघ्न समाप्त होने तथा मनोवांछित फल प्राप्ति पर लोग इसे इन्ही शक्तियों की अनुकम्पा मानकर अपना अहोभाग्य समझते हैं। विभिन्न मनौतियों और भेंटों को बड़े प्रेम, विश्वास और श्रद्धा से इनके चरणों में अर्पित कर इन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं।

मण्डी जनपद में भी इन देवी देवताओं की बहुलता रही है। कुछ एक तो अपने गुण, रहस्यात्मकता और प्रसिद्धि के कारण लोक आस्था के परम् प्रतीक बन चुके हैं। ऐसे ही देवताओं में कोठी के डूघानाल

सिद्ध बाबा बालक नाथ को अग्रगण्य श्रेणी में रखा जा सकता है। बाबा बालक नाथ नौ नाथों में से सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि इन्हें कई सिद्धियां प्राप्त थीं अतः इन्हें सिद्ध भी कहा जाता हैं। यहां मण्डी और इसके ऊपरि क्षेत्र, चुहार घाटी, चच्चोट, करसोग, सन्घोल, कुल्लू, कलहूर, शिमला और कांगड़ा के कई क्षेत्रों के हजारों श्रद्धालु प्रतिवर्ष अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करने पहुंचते रहते हैं।

बाबा बालक नाथ का यह मन्दिर मण्डी शहर से दक्षिण पश्चिम की ओर कोई तीस किलोमीटर के अन्तर पर स्थित है। मण्डी से लेदा वाया मैरा मसीत बस द्वारा इस स्थान तक पहुंचा जा सकता है। सड़क से यह स्थान कोई दो फर्लांग के फासले पर है। अब यहां तक जीप योग्य सड़क का निर्माण हो चुका है। सुन्दरनगर से यह स्थान मैरा मसीत होकर पैदल सफर द्वारा कोई आठ किलोमीटर पड़ता है। इसी तरह मण्डी सरकाघाट वाया रती से सिध्याणी तक बस द्वारा फिर वहां से दक्षिण की ओर कोई तीन किलोमीटर पैदल रास्ता चलकर यहां पहुंचा जा सकता है। एक रास्ता रत्ती से बाल्ट के साथ ग्राम डेबरी होते हुए भी सिद्ध तक पहुंचता है। बस के चलने से पूर्व पैदल यात्रियों के लिए यही मुख्य मार्ग था।

बाबा जी के आगमन के विषय में यहां विभिन्त जनश्रुतियां प्रचलित हैं। एक विचारधारा के अनुसार बाबा जी को यहां आए हुए अनुमानित एक हजार वर्ष हो चुके हैं। इनका मूल स्थान कांगड़ा का दयोट सिद्ध माना जाता है। कहा जाता है एक दफा बाबा जी दयोट सिद्ध से नाराज होकर यहां आ गए और एक वृक्ष के नीचे एक 'घूणा' लगा कर बैठ गए। इन्होंने कुछ लोगों से दूध की याचना की लेकिन किसी ने भी इन्हें दूध नहीं दिया। इस पर लोगों के घरों में रखे बर्तनों से प्रतिदिन दूध गायब होने लगा। लोगों ने अपनी गलती अनुभव की और बाबा जी से क्षमा मांगी। कुछ दिनों के पश्चात् बाबा जी चुपचाप ही यहां से प्रस्थान कर गए। काफी समय के बाद यहां किसी ब्राह्मण को स्वप्न में बाबा जी का स्थान बनाने का आदेश हुआ। उसने बाबा जी के बैठने के स्थान पर जहां बाबा जी का धूणा लगा था, एक छोटे से भवन का निर्माण किया जो आज भी विद्यमान है।

दूसरी जनश्रुति के अनुसार बाबा जी दयोट सिद्ध से आकर पास ही एक गुफा में रहने लगे फिर कुछ दिनों के बाद अन्तर्ध्यान हो गए। वर्षा के कारण गुफा गिर कर दब गई। काफी समय बीतने पर यहां किसी व्यक्ति को स्वप्न हुआ। गुफा की खुदवाई की गई और वहां से बाबा जी की 'पिण्डी' और खड़ाऊं प्राप्त हुई। उन्हें लाकर धूणा घर से थोड़ा ऊपर मन्दिर बना कर प्रतिष्ठित कर दिया गया।

तीसरी विचार धारा के अनुसार बाबा जी एक बुढ़िया के पास ग्वाले बनकर ठहरे और उसकी गौओं को चराने का काम करते रहे। अपने आप बाबा जी किसी ध्यान में मग्न बैठे रहते और गौएं लोगों के खेत चर जाती। इस पर लोगों ने बुढ़िया से शिकायत की। बुढ़िया आग-बबूला होकर बाबा जी पर बरस पड़ी। कहते हैं बाबा जी बुढ़िया को लेकर लोगों के साथ खेतों में गए। खेत वैसे के वैसे थे। इस पर लोग बहुत शर्मिन्दा हुए। उन्हें यह देखकर भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि बाबा जी के सिर के ऊपर हमेशा बादलों के एक टुकड़े की छाया विद्यमान रहती थी। बुढ़िया बाबा जी को खाने के लिए मक्की की रोटियां और लस्सी देती थी। बाबा जी ने क्रोध में आकर अपने चिमटे से एक चट्टान पर ज़ोर से वार किया। उससे लस्सी की धारा फूट पड़ी और पास के एक वृक्ष के कोटर से सारी रोटियां भी निकल पड़ीं। बाबा जी ने बुढ़िया को अपनी लस्सी और रोटियां लेने को कहा। बुढ़िया ने इस चमत्कार को देखकर क्षमा याचना की लेकिन इतने तक बाबा जी अन्तर्ध्यान हो चुके थे।

चौथी किंवदन्ती के अनुसार बाबा जी दयोट सिद्ध से नाराज़ होकर हटली इलाके के 'कसम्हेला' नामक ग्राम में आकर ठहरे। लेकिन वहां से पुजारियों की गड़बड़ के कारण फिर नाराज़ होकर दौड़ पड़े। आगे-आगे बाबा जी दौड़ रहे थे और पीछे से ढोल और नगारे अपने आप लुढ़कते चले आ रहे थे। इस तरह बाबा जी जब सिकन्दर धार तक आ गए तो पुजारियों को कुछ होश आई वे दौड़ कर बाबा जी के चरणों में गिर पड़े और क्षमा मांगने लगे। बाबा जी ने दया करके उनसे यह वादा किया की सप्ताह में वह चार दिन 'कसम्हेला' में रहेंगे और दो दिन डूग्रानाल में व्यतीत किया करेंगे। तब से बाबा जी शनिवार और रविवार को डूग्रानाल में निवास करते हैं और फिर वापिस हो जाते हैं।

अन्तिम विचार धारा के अनुसार यहां के एक ब्राह्मण "सुघड़" के पैर में कांटा लग जाने से काफी दर्द हो गया। जगह-जगह काफी इलाज कराया लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। उलटा दर्द बढ़ता ही गया। फिर उसने किसी ओझे का सहारा लिया। उसने उसके कुल देवता दयोट सिद्ध का 'खोट' बताया। सुघड़ ब्राह्मण अपने देवता को मनाने के लिए दयोट सिद्ध पहुंचा। बाद में बाबा जी उसके साथ ही यहां आ गए। इस तरह बाबा जी के यहां आने में कई विचार धाराएं बन चुकी हैं।

बाबा बालक नाथ का मन्दिर नाले के बीच बड़ी-बड़ी चट्टानों के ऊपर बना है। कुछ वर्ष पूर्व यह मन्दिर बिल्कुल साधारण और ग्रामीण शैली पर आधारित था। बाद में यहां एक छोटा सा गुम्बदाकार मन्दिर पत्थर और सीमेण्ट के योग से तैयार किया गया। मन्दिर की बांई दीवार चट्टान के रूप

में है। शेष पीछे और दाईं तरफ की दीवारें चट्टनों को आधार बनाकर बनाई गई हैं। दीवारों के ऊपर से कोई एक फुट की पट्टी बाहर की ओर छोड़ दी गई है। बीच में गुम्बद बनाया गया है। गुम्बद का व्यास कोई साढ़े चार फुट और घेरा बारह फुट के लगभग तथा ऊंचाई छः फुट के लगभग है। नीचे से मन्दिर की चौड़ाई कोई आठ फुट है। दीवारों की ऊंचाई कोई साढ़े आठ फुट के लगभग है। क्योंकि मन्दिर का निर्माण अनगढ़ और बेढंगी चट्टानों के ऊपर किया गया है अतः इसे किसी विशेष शैली या आकार का मन्दिर नहीं कहा जा सकता। सामने का हिस्सा खुला है जहां से श्रद्धालु 'पिण्डी' के दर्शन करते हैं। वैसे ऊपर गुम्बद होने के कारण इसे गुम्बदाकार शैली में लिया जा सकता है। मन्दिर के चारों ओर बान और पीपल के बड़े पुराने वृक्ष हैं जिनके कारण मन्दिर दूर से दिखाई नहीं पड़ता। यहां हर समय वृक्षों की सघन छाया रहती है। गर्मी के मौसम में यहां का वातावरण बड़ा शांत, शीतल, सुखद और सुहावना तथा आकर्षक लगता है।

मन्दिर के बीच में पत्थर की बनी कोई एक फुट के लगभग ऊंची 'पिण्डी' स्थापित है। इसे ही बाबा बालक नाथ प्रतीक माना जाता है। नीचे से यह 'पिण्डी' कुछ चौड़ी है और ऊपर को संकरी होती हुई एक शिखर का रूप ले लेती है। इसे केसरी रंग का लेप किया जाता है। वैसे बाबा जी को बाल योगी के रूप में दर्शाया जाता है। मन्दिर से नीचे सीढ़ियों के साथ बांई तरफ पांच बेडौल सी मूर्तियां चट्टानों के सहारे रखी गई हैं जिन पर सदैव केसरी रंग चढ़ा रहता है। किसी भी मूर्ति का रूप स्पष्ट नहीं झलकता। एक फुट भर की मूर्ति हनुमान और एक बाबा बालक नाथ की बताई जाती है। शेष तीन छोटी मूर्तियों का कोई पता नहीं। मन्दिर से नीचे आंगन तक पन्द्रह पौड़ियां हैं जो तराशे पत्थरों से तैयार की गई हैं। आंगन में शिव की सवारी नंदी बैल की प्रतीक पत्थर से निर्मित एक प्रतिमा पड़ीहै जो अब टूट चुकी है। मन्दिर के ऊपर व चारों तरफ चट्टानों के बीच छोटी-छोटी झंड़ियां लहराती रहती हैं।

बाबा जी की पूजा की कोई विशेष विधि नहीं। प्रातः पुजारी आकर बाबा जी की पिण्डी को गाय के दूध से स्नान कराता हैं। लोटे से दूध धार के रूप में सीधे पिण्डी के ऊपर गिरा दिया जाता है। फिर कुंकुम लगा कर फूलों के बने हार से पिण्डी को ढक दिया जाता है। धूप दीप आदि जलाकर शंख व घण्टा ध्वनि की जाति है। नीचे आंगन में बजन्त्री नगाड़े बजाते रहते हैं। शाम को सिर्फ धूप दीप जलाकर आरती उतारी जाती है और वाद्य यन्त्रों की ध्वनि की जाती है।

पौड़ियों के साथ ही बाबा जी का धूनाघर है। यहीं आकर बाबा जी ने अपना धूना लगाया था। यह चौदह फुट लम्बा और नौ फुट चौड़ा है। एक ओर की दीवार चट्टानों की ही है। ऊपर स्लेट

का छप्पर पड़ा है। घूनेघर में हर समय अग्नि का प्रज्वलित रखने का प्रयास किया जाता है। इसके बाहर साठ फुट लम्बा और चौदह फुट चौड़ा तराशे पत्थरों से बना आंगन है जहां श्रद्धालु आकर बैठते हैं। घूनेघर का दरवाजा दक्षिण की ओर है। यहीं दरवाजे के पास बाबा जी का चेलड़ू (दुभाषिया) बैठकर खेलता रहता है और जिज्ञासुओं के प्रश्नों का उत्तर देता रहता है। ऊपर के आंगन के नीचे दो और आंगन हैं। एक में हरिजनों के बैठने की व्यवस्था रहती है और दूसरे में बकरे काटे जाते हैं। धूने के पास बाबा जी का चिमटा गड़ा रहता है और दीवारों पर कुछ लोहे के सांगल लटके रहते हैं।

बाबा जी का एक दुभाषिया है। जिसे आम तौर पर चेलड़ू कहा जाता है। इसके ऊपर बाबा जी आते हैं, प्रायः यह लोगों के प्रश्नों के उत्तर देता रहता है। खून खोट भी निकालता है और उन्हें दूर करने के उपाय बताता रहता है प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए पीड़ित व्यक्ति का वस्त्र कुछ पैसों के साथ चेलड़ू के आगे रख दिया जाता है। थोड़ी देर के बाद चेलड़ू सम्बन्धित व्यक्ति को आवाज डालकर रोग, भूत प्रेत बाधा या खून खोट का कारण और उनका निदान बताता जाता है। वस्त्रों के साथ रखा पैसा चेलड़ू का होता है। जब यह खेलता है तो बाबा जी के लोहे के बने सांगल को हाथ में लेकर छनकाते हुए बड़े ज़ोर से 'अलख-अलख' की आवाज़ निकालता है। इन्हीं लोहे के बने सांगलों से भूत प्रेत बाधा वाले व्यक्तियों को भी पीटा जाता है।

बाबा जी के अन्दर कई चमत्कारी शक्तियां विद्यमान है। कई लोगों की मनोकामनाओं को पूर्ण करता है। उन्हें मनोवांछित फल देता है। जादू जन्त्र, खून-खोट, भूत पिशाच बाधा, दैविक, दैहिक, भौतिक तापों से छुटकारा दिलाता है। बांझ स्त्रियां प्रायः पुत्रोत्पत्ति के लिए प्रार्थना करती है और कई बार उनकी इच्छा पूर्ण भी हो जाती है। स्त्रियों के लिए सातवीं पौड़ी से ऊपर चढ़ना वर्जित है। वे वहीं से खड़े होकर बाबा जी की पिण्डी के दर्शन करती है। जनश्रुति है कि एक बार एक स्त्री हठ करके ऊपर मन्दिर के पास चढ़ गई। वह वहां से उड़कर एक बान वृक्ष की टहनी के साथ लटक गई। काफी मिन्नतें करने के बाद बाबा जी की कृपा से वह फिर कुशलता पूर्वक नीचे आ गई। यहां छूत-छात को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। कोई भी पुरुष या स्त्री अपवित्र होकर यहां नहीं आ सकता। यदि कोई ऐसी स्त्री या पुरुष गलती से आ जाए तो उसे भयकर पीड़ाएं सहन करनी पड़ती हैं। कई बार तो उसके हाथ पैर बुरी तरह मुड़ जाते हैं। पिण्डी के पास ही एक सुराख सा है। यदि वहां पैसे डाल दिए जाएं तो वह काफी नीचे तक ठन ठन की आवाज करते हुए चले जाते हैं। यह कोई पता नहीं कि इसकी गहराई कहां तक है। कहा जाता है कि एक बार पुजारी से घण्टी छूटकर सुराख में गिर गई। वह आवाज़ करती हुई काफी नीचे चली गई। घण्टी की व्यवस्था न होने के कारण दूसरे दिन पूजा

में व्यवधान पड़ना स्वाभाविक था। पुजारी ने बाबा जी से शाम को प्रार्थना की और दूसरे दिन घण्टी पिण्डी के पास रखी हुई मिल गई। जिन लोगों को भूत प्रेत बाधा होती है वह बाबा जी के क्षेत्र में प्रवेश करते ही कोई एक मील से खेलते हुए दौड़ पड़ते हैं। उन्हें फिर यहां पहुंचते ही लोहे के सांगलो से पीटा जाता है और उनके शरीर पर बाबा जी के धून की 'बभूति' लगाई जाती है। बाद में वह ठीक हो जाते हैं।

पुजारी ब्राह्मण जाति से सम्बन्ध रखते हैं। इनके कई परिवार बन चुके हैं लेकिन असली पुजारियों की पाँचे ही टोलियां हैं। शुक्रवार प्रातः से अगले बीरवार शाम तक एक पुजारी की बारी होती है। इसी तरह दूसरे शुक्रवार से दूसरे परिवार की बारी आरम्भ हो जाती है। इस तरह पैंतीस दिन के बाद हर परिवार की बारी आ जाती है। वैसे तो हर रविवार ही अपने में एक मेला होता है। महीने का पहला रविवार ज्येष्ठ और आखिरी रविवार कनिष्ठ कहलाता है। विक्रमी साल आरम्भ होने पर पहला रविवार वर्ष का ज्येष्ठ और आखिरी रविवार साल का कनिष्ठ रविवार कहलाता है। इन रविवारों को यहां हजारों यात्री आते हैं। नवरात्रों में भी कभी कभी काफी भीड़ हो जाती है। मनोकामना पूर्ण होने पर लोग शनिवार शाम को यहां आकर जागरण करते हैं। रविवार को प्रातः वे बाबा जी के दरबार में उपस्थित होकर लालरंग की ध्वजा, खड़ाऊं, नारियल आदि भेंट स्वरूप अर्पित करते हैं। नैवेद्य के रूप में यहां मीठे 'रोट' चढ़ाए जाते हैं। यह रोट मक्की या गन्दम के आटे के बने होते हैं। यह रोट पांच या सात की संख्या में चढ़ाए जाते हैं। पुजारी इन्हें बाबा जी को चढ़ाकर आधे स्वयं रख लेते हैं और आधे यात्रियों को वापिस कर देते हैं। कुछ लोग यहां बकरे भी काटते हैं। ज्येष्ठ और कनिष्ठ रविवार को यहां बड़े भारी बकरे चढ़ाये जाते हैं। बकरे की 'मुण्डी' पुजारी की होती है जो बकरे जीवित ही छोड़ दिए जाते हैं उन्हें वारी वाला पुजारी ले जाता है। बाबा जी को चांदी की बनी 'सींगियां' भी चढ़ाई जाती हैं इन्हें पुजारी पिण्डी से स्पर्श कराकर श्रद्धालु या रोग से पीड़ित व्यक्ति को दे देते हैं। लोग उसे बाबा जी का प्रतीक मानकर उसमें धागा डालकर गले में धारण कर लेते हैं। इससे भूत प्रेत बाधा का भय नहीं रहता।

काफी सालों तक मन्दिर का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। जो भी आमदनी होती वह पुजारी की अपनी आमदनी मानी जाती थी। वह निजी तौर पर उसका प्रयोग करता रहता था। लेकिन अब कुछ वर्षों से यह प्रथा बन्द कर दी गई है। पुजारी को अब मुण्डकी रोट या अन्य श्रद्धावश दिया हुआ थोड़ा बहुत पैसा ही मिलता है। अब मन्दिर का प्रबन्ध चलाने के लिए पुजारियों में से ही एक कमेटी बनाई गई है जिसमें एक प्रधान, एक उपप्रधान, मन्त्री और दो सदस्य हैं। यह कमेटी सारा प्रबन्ध करती है।

दान में दिए हुए पैसे की रसीदें दी जाती है। आमदनी का पूरा-पूरा हिसाब रखा जाता है। एकत्रित पैसे को डाकखाने में जमा करा दिया जाता है। समय समय पर इस पैसे को मन्दिर की बेहतरी के लिए खर्च किया जाता है।

यात्रियों के ठहरने के लिए यहां एक बड़ी सुन्दर दो मंजिला धर्मशाला बनी है। जिसमें ऊपर नीचे छः कमरे और दो बरामदे हैं। इसकी सभी दीवारें तराशे पत्थरों से बनाई गई है। इसे बहुत साल पहले मण्डी शहर के एक श्रद्धालु मुन्शी रामदित्ता जी ने यात्रियों की सुविधा के लिए तैयार किया था। धर्मशाला के पास ही यात्रियों के लिए दो कमरों वाला रसोईघर बना है। बर्तन आदि पुजारियों से उपलब्ध हो जाते हैं। लकड़ी, जल और बिजली की व्यवस्था भी है। कोई आध मील ऊपर सड़क के साथ ही दो चार दुकानें हैं जहां से सारी सामग्री उपलब्ध हो जाती है। आजकल बीस पच्चीस हजार की लागत से एक पक्की धर्मशाला के निर्माण की योजना आरम्भ की जा रही है। इस तरह यह देवस्थान मण्डी जिले में अपना एक विशेष महत्व रखता है।

ग्राम व डाक0 गुरकोठा
१७५०३६ जिला मण्डी
हिमाचल प्रदेश

# लोक धर्मी नाट्य-परम्परा : महत्त्व व मूल्यांकन

□ अमिता शर्मा

रंगमंच के प्रादुर्भाव से लेकर आज तक हर काल में तथा हर युग में व हर स्थान पर दो प्रकार की नाट्य-धर्मिताएं देखने को मिलती हैं। भाषा के रूप पर ही नाट्य-धर्मिता का रूप संवरता और निखरता है। भाषा के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य स्वयं सिद्ध होता चलता है। यदि इस साहित्य विधा का आदि रूप परखा जाए तो संस्कृत रंगमंच में दो प्रकार की नाट्य धर्मिताएं मिलती हैं :

१) लोक धर्मी

२) नाट्य धर्मी

संस्कृत काव्य शास्त्र में इतिवृत, नायक तथा रस के स्तर पर जितनी चर्चा हुई है तथा जितने नियमों एवं सिद्धान्तों का घेरा डाला गया, वह सब नाट्य धर्मी है। भरत का 'नाट्य शास्त्र' एक प्रकार से नाट्य धर्मी रूढ़ियों का भण्डार है। किन्तु भरत यह कभी नहीं भूलते कि नाट्य की वास्तविक भूमि लोक-जीवन है। तथा लोकाचित्र ही उसकी कसौटी है। धर्मिताओं के विषय में उनका मत है :

लोकधर्मी भवेत्त्वन्या नाट्य धर्मी तथा परा
स्वभावो लोक धर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि ॥[1]

अर्थात् जो मानव-स्वभाव है, वह स्वाभाविक लोक धर्म है जो कृत्रिम है, वह नाट्य-धर्म है। नाट्य धर्मी को नृत्य नाटक भी कहा गया है। यही वह शैली थी जिसे कालीदास तथा श्री हर्ष ने उत्पन्न किया। नाट्य धर्मी प्रविधि शास्त्रीय, कलात्मक एवं आदर्शात्मक थी। इसी ने संस्कृत नाटक को काव्यात्मक तथा संगीत एवं नृत्यधर्मी बनाया था। अतिशय साज सज्जा एवं रूप वैभव, संस्कृत-रंगमंच की विशेषता है। सामन्तीय एवं अभिजात्य वर्ग में पोषित नाट्य धर्मिताएं परम्परा तथा शास्त्र की प्रतीक है। जबकि

लोक धर्मी नाट्य परम्पराओं की प्रेरणा भूमि लोक जीवन होता है। यहां जन-आन्दोल्लास सहज रूप में व्यक्त होता है। यहां शास्त्रीय नियमावली नहीं, जन जीवन का असीम भावावेग होता है। लोक-रंगमंच के इन नाटकों में लोक परम्परा के चार तत्व विद्यमान रहते हैं : गीत, नृत्य, पुराण तथा लोक कथा। जीवन की सहज प्रतिछवि यहीं होती है।[2]

इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मानव मन की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक धर्मिता है तथा नियम बद्ध व रूढ़िगत व्यंजना नाट्य धर्मिता है। इन दोनों का महत्व अपने-अपने स्थान पर अप्रतिम है—और किसी एक धर्मिता को दूसरी में अधिक गरिमापूर्ण पद पर आसीन नहीं किया जा सकता, फिर भी स्वाभाविकता और प्रयत्न में जो अन्तर है, वही अन्तर इन दोनों में स्वीकार करना ही पड़ेगा। प्राकृतिक ढंग से खिले, वादी में झूमते फूल तथा काट-छांट कर संवारे गए बगीचे के पुष्प में एक अन्तर तो होता ही है। हिमगिरी से आते कल-कल बहते झरने के और 'शावर' की ठंडक के अन्तर को भी अनुभव तो किया ही जा सकता है। जंगल में विचरते स्वच्छंद बनराज तथा सरकस के रिंग मास्टर के कोड़े से कांपते सिंह की ताकत के अन्तर को भी समझा जा सकता है। अम्बिया के झुरमुट पर कूकने वाली कोयल के स्वर की मिठास का स्वाद पिंजरे की कूकों की स्वर साधना को भी मात तो करेगा ही।

फिर भी इस सम्बन्ध में सर्वश्रेष्ठता का पद देना असम्भव नहीं तो दुष्कर कार्य तो अवश्य ही है। प्रकृति ने जगती को अनेक उपहार दिए हैं। और उन सब में सबसे अनूठा उपहार है 'मनुष्य'। यह निरंतर परिवर्तन की चाह रखने वाला जीव है। कभी भी एक फैसले पर टिक नहीं पाता। आज यदि इस प्राणी का मन मयूर नृत्य देख कर झूम उठा है, तो कल इसे जाने क्यों यही नृत्य उबाने लगेगा। आज यदि बसन्त की चाह है तो कल पतझड़ का दर्शन आकर्षित करने लगेगा। और यह 'चाह' निरंतर है, अविच्छिन्न है। एक मनुष्य से दूसरे की चाह भिन्न है। यही कारण है कि मनुष्य का निर्णय कोई भी अन्तिम नहीं कहा जा सकता। यदि द्विवेदी युग रूढ़ियां जगा देता है तो आगामी काल स्वच्छंदता का उपासक बन जाता है।

यहां जब लोक धर्मी नाट्य परम्परा का महत्व व मूल्यांकन करने का प्रश्न आता है, तो यही व्यवधान सामने आ जाता है। ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि लोक धर्मिता स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जो मूल्य स्वाभाविकता को महत्व देते हैं, वह निःसन्देह लोक धर्मी नाटक व रंगमंच को नाट्य धर्मी रंगमंच से कहीं अधिक महत्त्व देते हैं।

इसके अतिरिक्त लोक नाट्य धर्मिता अन्य पुनीत कार्य भी करती है। यह संजीवनी की भान्ति साहित्यिक नाटक की मृतप्रायः होती परम्परा को पुर्नजीवन प्रदान करती है। यदि नाट्य-इतिहास

पर दृष्टि डाली जाए तो यह तथ्य पुष्ट होता चलता है। भारत में लोक नाटक का उदय मध्यकाल के पूर्वकाल से माना जा सकता है। भवभूति के पश्चात् संस्कृत नाट्य-परम्परा लगभग समाप्त प्रायः हो गई। जो कुछेक लेखक हुए भी, उनकी कृतियां रंगमच की दृष्टि से तो एकदम महत्त्वहीन ही हैं।[3]

इस जड़ साहित्यिक संस्कृत की प्रधानता होने, क्लिष्ट शब्दावली के प्रयोग व शास्त्रीय बन्धनों ने संस्कृत नाटक की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। मगर नाटक तो मनुष्य की सर्वप्रिय रूचि को संतुष्टि देने का सबल साधन है। यह धारा क्षीण तो हो सकती है, मगर पूर्णतः (अवरूद्ध) सूख नहीं सकती। रूख बदल कर नवीन परिधानों में रूप बदल सकती है पर आत्मा तो उसकी अमर है। अतः जब क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग उसे जनता से काफी दूर ले गया और उसका (रंगमंच) विकास अन्धकूप की तरह जड़ यानि स्थिर हो गया तो दूसरी ओर बहते नीर की तरह जनभाषा का आधार लेने वाला लोकमच सतत् विकसित होता गया।

डा० लक्ष्मी नारायण लाल भी इसी को मान्यता देते हैं। ह्रास की वास्तविक स्थिति स्वयं संस्कृत नाटक और रंगमंच की विशेष प्रकृति और परम्परा मे भी छिपी पड़ी है। यह विशेष समाज बोध और उसके सौंदर्य-बोध से सम्बंधित होने के कारण क्रमशः विकसित समाज और सौंदर्य-बोध के संग न चल सका। कार्य तत्व की अपेक्षा उपदेश तत्व, रंगमंच की अपेक्षा पाठ तत्व, संस्कृत नाटक की इन सीमाओं ने मूल रूप से इसके ह्रास में योग दिया।[4]

इन्हीं सब तत्वों से मुक्त जो धारा चली उसे लोकमंच का नाम मिला। जगदीश चन्द्र माथुर को इसी लोकनाट्य धर्मिता में साहित्यिक नाटक के बीज दिखाई देते हैं। उनका विचार है कि यद्यपि लोकनाट्य रूपों यथा रामलीला, कृष्णलीला, स्वांग, नौटंकी आदि पूर्णतः साहित्यिक रंगमंच नहीं दे सके फिर भी 'रामचरित मानस' के अनेक संवाद तो छोटे-मोटे एकांकी ही जान पड़ते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार 'अयोध्या कांड' में घटनाओं के गुम्फन, चरित्र विकास, आन्तरिक एवं बाह्य द्वन्द्व और करुण रस का पर्यवसान इन सभी नाटकीय अंगो का निरूपण इस खूबी के साथ हुआ है कि उसे यूनानी दुःखांत नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। कई स्थलों पर विभिन्न प्रकृति के पात्रों द्वारा तर्कपूर्ण शैली में वार्तालाप का प्रयोग रंगमंच के लिए अत्यंत उपयुक्त है। रामलीला रंगमंच की कतिपय विशेषताएं उसे यूरोप के पैशनप्ले (*Passion Play*) के समकक्ष रख देती हैं।[5]

इसके अतिरिक्त गायन, नृत्य और तमाशों आदि के रूप में भी इस लोक धर्मिता ने करवट बदली है। मध्यकाल भारतीय जन-मानस के लिए निराशा का काल था। सारी जनता मोह-माया, ईर्ष्या-द्वेष, करुणा व भक्ति के वाह्यडम्बरों में फंसी थी।

मुसलमानों के प्रभाव के फलस्वरूप आई पर्दा प्रथा ने साहित्यिक मंच परम्परा को धक्का पहुंचाया। ऐसी स्थिति में लोक नाट्य परम्परा का उदय हुआ, और उस परम्परा ने हिन्दी नाट्य रंगमंच व संस्कृत नाट्य परम्परा के बीच सेतु बन्ध का कार्य सम्पादन किया। काशी में अंतिम बार दसवीं शताब्दी में खेले गए संस्कृत नाटक के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक का काल लोक धर्मी नाट्य-रंगमंच का काल बन गया।

आज के अनेक विद्वान इसी लोक मंच के विकसित रूप को आधुनिक हिन्दी मंच का आधार मानते हैं। यद्यपि कतिपय विद्वान हिन्दी नाटक की शृंखला को संस्कृत परम्परा से जोड़ने का प्रयास भी करते रहे हैं। मगर अधिकांश विद्वानों द्वारा प्रथम मत की ही पुष्टि की जाती है। डा० दशरथ ओझा हिन्दी रंगमंच और नाटक का विकास इन लोकनाटकों से ही स्वीकार करते हैं, हिन्दी नाटक की परम्परा का मूल स्त्रोत यह जन नाटक ही है, जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान है। क्रमशः इन जन-नाटकों की एक शाखा ने विकसित होकर साहित्यक रूप धारण किया है।[6]

यदि इस मत को मान्यता न भी दी जाए तो यह प्रश्न पैदा होता है कि दसवीं शताब्दी में संस्कृत नाटक के बाद लुप्त हुई नाट्य धारा लगभग एक हजार वर्ष बाद यकायक ही 'जानकी मंगल' में कैसे पुर्नजीवित हो उठी। यदि हम केवल साहित्यिक नाटक को ही मान्यता दें तब तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि केवल हरिद्वार की गंगा ही मात्र गंगा है, हिमालय से आती, अनेक झाड़-झंखाड़ो से गुजरती, पर्वतों के सीने रौंदती, गिरती पड़ती, कलकल-छलछल बहती आती भागीरथी गंगा नहीं है। अगर हम इस मत को भी मान्यता दे दें तो इस को जीवन देने वाली धारा को अस्वीकारना पड़ेगा। और यह पूर्णतया अवैज्ञानिक मान्यता होगी। प्रत्येक वर्तमान, भूत काल और भविष्य काल के बीच एक कड़ी होता है। यदि हम इस एक हजार लम्बे लोक नाट्य काल को मान्यता न दें तो वर्तमान हिन्दी नाटक शृंखला अपनी कड़ी से टूट कर त्रिशंकु बन जाएगी तथा यह स्थिति स्वीकारनी सुखद नहीं होगी। और एक सुखद आश्चर्य चकित कर देने वाला तथ्य यह भी है कि जो विद्वान समीक्षक लोक नाट्य परम्परा को मान्यता नहीं भी देते वह भी दबे स्वर में यह स्वीकार करते हैं कि हिन्दी रंगमंच आज इसीलिए अधिक विकसित नहीं हो पाया है कि उसके सामने कोई स्वस्थ-नाट्य परम्परा नहीं थी, उसका विकास लोक-नाट्यों से हुआ है।[7] इस नकारने में भी यह स्वीकारोक्ति छिपी है कि हिन्दी नाटकों का विकास जन-नाटकों से ही हुआ है।

वास्तव में आज का हिन्दी नाटक और रंगमंच लोक धर्मी नाट्य परम्परा की ही अगली कड़ी है। यहां भारतीय रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में संकेत भारत के सम्पूर्ण भाषा-परिवार से है। यही अखिल

भारतीय रूप है। इसके लिए विभिन्न भाषाओं के लोक नाट्य रूपो का दृष्टि अवलोकन करना समाचीन होगा।

उत्तरी भारत में तो पूरी तरह रामलीला [और कृष्णलीला प्रभावित रही, आज भी हिन्दी के परिमार्जित मंच की स्थापना के होते हुए भी इस सम्पूर्ण क्षेत्र मे इन लीलाओ का प्रभाव दिखाई देता है। इसमें सभी नाट्य तत्वों का पूरी तरह परिपालन होता है और होता रहा है।

बंगाल में लोक नाट्य रूप का दर्शन विशुद्ध रहस्य-चिन्तन की क्रिया के फलस्वरूप आया। नाटक के विकास का अगला सोपान तब आया जब श्री चैतन्य का आविर्भाव हुआ और वैष्णव-भक्ति गीतो से बंगाल की धरती मुखरित हो उठी। श्री चैतन्य के अन्तस्तल में दिव्य प्रेमानुभूति की भावना इतनी तीव्र थी और इतनी एक निष्ठ कि विशुद्ध रहस्य चिन्तन की क्रिया ने उन्हें अनिवार्य रूप से नाटकीय अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख किया। यही एक प्रकार से यात्रा का जो नाटक का एक देशज रूप है, आरम्भ बिन्दु माना जा सकता है।[8]

इन धार्मिक कथाओं के नाट्य रुपान्तरों से ही उड़िया और असमिया लोक नाट्य रूपों का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य भारतीय-भाषाओं के रगमच का विकास लोक नाटकों और धार्मिक कथाओं के नाट्य रुपान्तरों से ही हुआ है। इन भाषाओं से बंगला की रंगधर्मिता सबसे अधिक समृद्ध मानी जाती रही है। यही एक रंगमच है जो व्यवसायी रूप धारण कर निरंतर विकसित पथ पर बढ़ता रहा है।

तमिल, तेलगू और मलयालम भाषाओं का रंगमंच घूमने फिरने वाली मण्डलियों के सहारे चलता रहा है। गुजरात में पारसी-प्रभाव की सस्ती भावुकता भी चलती रही।

अतः बंगला को छोड़ कर लगभग अन्य सभी भाषाओं के रंगमंच के विकास की प्रक्रिया उतनी अधिक सहयोगी न रही। मगर आज जो नई नाट्य-समीक्षा पद्धति बल पकड़ रही है, उसमें इन सभी का अध्ययन व मनन करना आवश्यक समझा जा रहा है। प्रसिद्ध रंगकर्मी डा. सुरेश अवस्थी का मत है, शैली की खोज और आत्माभिज्ञान का यह कार्य एक साथ दो स्तरों पर हुआ है इसलिए एक तो परम्परा के प्रति जागरूक आस्था और उसका अन्वेषण और दूसरे आधुनिकता का अधिक सच्चा और प्रखर बोध।[9]

आज जिस अखिल भारतीय रंगमंच की स्थापना की बात कही जाती है, वह भारत के विभिन्न क्षेत्रों में लगभग चौबीस प्रकार की नाट्य शैलियों का आधुनिक रूप होगा, रामलीला, रासलीला, बंगाल

की जात्रा, असम की अंकिया नाट, बिहार की अंकिया नाट और कीर्तनियां नाट तथा बिदेसिया, गुजरात में भवई, मध्य प्रदेश में मांच, राजस्थान में ख्याल तथा रम्मत, महाराष्ट्र में तमाशा, उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा पंजाब में नौटकी, सांग तथा काश्मीर में भाण्डजशन, हिमाचल प्रदेश म करियाला, केरल में कूडियाट्टम और चविट्ट, तमिलनाडु में भागवतमेल, मैसूर में यक्षगान, आंध्रप्रदेश में कुचिपुडि ।[10]

इन नाट्य-रूपों का महत्व स्वीकार किए बिना आज का रंगकर्मी अपने कार्य में समर्थ नहीं हो पाता। अतः यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस लोक धर्मिता का नाटक व रंगमच की दृष्टि से हिन्दी रंगमंच के लिए महान योगदान है। और यह प्रसन्नता की बात है कि आधुनिक समीक्षकों द्वारा यह मत मान्यता प्राप्त करता जा रहा है। श्री नेमिचन्द्र जैन का मत है— कई दृष्टियों से उसमें संस्कृत रंगमच से कहीं अधिक विविधता है। सबसे बड़ी बात है कि आज भी वह जिंदा है। यद्यपि जीवंतता कई स्तरों पर है। कोई गम्भीर शहरी रंगकर्मी बहुत दिनों तक लोकनाट्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। और कभी न कभी उसे रंगकार्य के इस पक्ष के साथ अपना कोई न कोई सम्बन्ध बनाना पड़ता है।[11]

जगदीश चन्द्र माथुर तो इसे भारतीय रंगमंच की आधार शिला स्वीकार करते ही है साथ ही देश की असंख्य जनता के अधिक समीप होने के कारण इस विधा को 'पंचमवेद' की संज्ञा की वास्तविक अधिकारिणी मानते हैं।[12] हिन्दी रंगमंच के भविष्य की कल्पना राष्ट्रीय रंगमंच के रूप में करते हुए माथुर जी मानते हैं कि यदि निर्देशक देहाती जनता की रूचि मांग का पूरा ध्यान रखें तो ये देहाती-नाटक मण्डलियां राष्ट्रीय-रंगमंच के लिए अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकती हैं। तीन शैलियों में भावी हिन्दी रंगमंच की रूपरेखा सन्निहित है— (१) यथार्थवादी अमेचर रंगमंच (२) प्राचीन नाट्य परम्परा से प्रेरित किन्तु आधुनिक व्यवसायिक साधनों से सम्पन्न नागरिक रंगमंच (३) परिमार्जित और संशोधित रूप में देहाती रंगमंच ।[13]

इस प्रकार लोक धर्मिता का महत्व स्वीकार करना आज के समीक्षक की नियति बन चुकी है। इससे आंखे मूदंना मानो अपने सशक्त अतीत से पलायन करना है।

यह लोक रंगमंच धारा एक अन्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य भी करती है, जिस पर बहुत ही कम आलोचक विचार कर सके हैं। यह भारत की इस साहित्य विधा को अखिल भारतीयता के सूत्र में तो पिरोती ही है साथ ही भावात्मक एकता स्थापित करने में भी महत्वपूर्ण रोल अदा कर सकती है। वृन्दावन की रासलीला मण्डली को सारे आर्यावृत में एक समान चावपूर्ण देखा जाता

है। अयोध्या के राम की लीला काश्मीर से कन्याकुमारी तक एक समान श्रद्धा से देखी जाती है। अतः आज की सर्वाधिक मांग भावात्मक एकता को स्थापित करने व आगे बढ़ाने में यह लोक नाट्य-धर्मिता बड़ा महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर सकती है। यदि मानस व सागर के रूसी से लेकर फ्रैंच तक में अनुवाद हो सकते हैं, यदि हरे-राम हरे कृष्ण की अमृत धारा सुदूर अमेरिका वासियों को पूर्व के भारत के इतने करीब ला सकती है तो भारत की यह (बहिनें) लोकनाट्य धारायें भी इस जम्बूद्वीप को भावात्मक स्तर पर गले मिला ही सकती हैं, स्नेह धारा से नहला सकती हैं। क्योंकि—रंगमंचीय निरंतरता बनाये रखने के साथ-साथ ही ये नाट्य-शैलियां विभिन्न आंचलिक क्षेत्रों को एक सूत्र में बांधती हैं क्योंकि इनमें प्रायः एक ही प्रकार के पौराणिक कथानक प्रयुक्त हुए हैं। लोक-प्रचलित नृत्य गान-संगीत तथा शास्त्र-सम्मत संगीत-नृत्य मिश्रित यह नाट्य रूप सहज स्वाभाविक स्थानीय तथा संस्कृत रंगमंच के समन्वित रूप की देशव्यापी प्रवृति को प्रकट करता है।[14]

अतः लोक धर्मी नाट्य परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता।

ग्राम व डाकखाना औहर
जिला बिलासपुर हि. प्र.

१. नाट्य-शास्त्र: भरत: पृष्ठ २१/203
२. रंगमंच नया परिदृश्य: डा. रीता रानी पाली वाल: पृष्ठ ११३-११४.
3. बीसवीं शताब्दी का हिन्दी रंगमंच: श्री प्रभा अवी: पृष्ठ १६
४. रंगमंच और नाटक की भूमिका : डा. लक्ष्मी नारायण लाल : पृष्ठ ८६
५. हिन्दी रंगमंच और नाट्य रचना का विकास : आलोचना : सितम्बर १६५२ पृष्ठ २१
६. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : डा. दशरथ ओझा : पृष्ठ ४२
७. बीसवीं शताब्दी का हिन्दी रंगमंच : श्री प्रभाअवी पृष्ठ २१
८. बंगला नाटक : सेठ गोविन्द दास अभिनदंन ग्रन्थ पृष्ठ ४५८
६. भारतीय रंगमंच का नया संदर्भ : शैली की खोज : सुरेश अवस्थी नटरंग—६ जून, १६८६
१0. रंगमंच नया परिदृश्य : डा. रीतारानी पालीवाल पृष्ठ १५3
११. रंग दर्शन : नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ ८0
१२ परम्पराशील नाट्य: प्रस्तावना : जगदीश चन्द्र माथुर
१3. कोणार्क : उदय की बेला में हिन्दी रंगमंच और नाटक पृष्ठ ११
१४. रंगमंच नया परिदृष्य : डा. रीतारानी पालीवाल पृष्ठ १५3

# कुल्लवी जन जीवन में प्रचलित संस्कार

दया नन्द 'सरस्वती'

मानव जगत के समस्त प्राणियों में एक विशिष्ट स्थान रखता है। उस के जीवन का एक निश्चित लक्ष्य होता है। उस लक्ष्य को प्राप्त करने का एक मात्र साधन है, संस्कार ! जन्म से शिशु अपने साथ मस्तिष्क पर आजीवन संस्कार ले कर आता है, जिसे हम पैतृक संस्कारिक पद्धति भी कहते हैं। संस्कार शुभ हो अथवा अशुभ परन्तु उसे बाह्य जगत के संस्कार समय-समय पर प्रभावित करते हैं और जन्म जात संस्कारों का परिवर्तन, परिवर्धन अथवा उन्मूलन अवश्यम्भावी है। प्रतिकूल संस्कारों का विनाश, अनुकूल संस्कारों का निर्माण सच्चे साधक मानव का मूल एवं उचित प्रयत्न है। मानव का सचेष्ट व उचित प्रयास उसे परम पद तक पहुंचा सकता है। संस्कार मानव के साथ प्रागैतिहासिक काल से जुड़े हैं परन्तु आर्यों के भारत आगमन पर संस्कारों का परिष्कृत रूप समक्ष आया। वेदों में तथा कालिदास, पाणिनि आदि विद्वानों ने संस्कारों को अपने-अपने परिवेश से अभिव्यक्त किया है।

कालीदास—

१) "निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराज शब्द भाक्" (रघुवंश ३/३५)

२) "स्वभाव सुन्दर वस्तु न संस्कारमुपेक्षते (शकुन्तला ७/२३)

३) "फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्कारा प्राक्तना इव" (रघुवंश ५/२०)

संस्कृत में शिक्षण चमक, सजावट, आभूषण, पावक, कर्म, विचार, धारण, पुण्य आदि को संस्कारात्मक भावाभिव्यञ्जना कहा है।

पाणिनी—

"सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे" (अष्टाध्यायी ६/११/३७)

संस्कार शब्द का अर्थ तीन भागों में प्रयुक्त हुआ है :

१) उत्कर्ष करने वाला (उत्कर्ष साधन संस्कार)

२) समवाय अथवा संघात और

३) आभूषण ।

अर्थ के साथ संस्कारों की संख्या में भी विद्वान लोगों का मतैक्य नहीं हैं।

मनु ने प्रथम गर्भाधान और अन्तिम अन्तयेष्टि कहा है :

"निषेकादिश्मशानान्तों मन्त्रैर्यस्यो दि तो विधि" (मनु स्मृति अ० २/१६)

गौतम धर्म सूत्र (१/८/८) में ४० संस्कार बताये हैं गौतम स्मृति ४८ तथा अंगिश २५ संस्कार बताते हैं। विभिन्न विद्वानों और शास्त्रीय विधि अनुसार संस्कार १६ माने हैं। 'व्यास स्मृति' भी यही बताती है। १. गर्भधान २. पुंसवन ३. सीमान्तोन्नयन ४. जात कर्म ५. नामकरण ६. निष्क्रमण ७. अन्न प्राशन ८. चूड़ा कर्म ९. कर्ण वेध १०. उपनयन ११. वदारम्भ १२. समावर्तन १३. विवाह १४. आवसथ्याध्यान १५. श्रोताधान और १६. अन्त्येष्टि ।

कुल्लुवी जन जीवन में प्रचलित आठ संस्कार अल्पता और प्रचुरता में पाये जाते हैं जो निष्क्रमण, नामकरण, चूड़ा कर्म, अन्नप्राशन कर्ण वेध, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि आदि हैं। जहां तक शास्त्रीय विधि से क्रमानुसार संस्कारों का प्रश्न है वहां कुल्लू में कुछ ही अपने मूल रूप में हैं, परन्तु फिर भी अपनी समानता से हम उन्हें उसी विशेष संस्कार की उपमा देते हैं जिस के अन्तर्गत उस के सम्पूर्ण नियम समाहित हो रहे हैं।

**निष्क्रमण :** कुल्लुवी जन जीवन में यह संस्कार परम आवश्यक एवं सर्वमान्य है। बालक को घर से बाहर ले जाना।

"चतुर्थमासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति" (पास्कर गृह्य सूत्र काण्ड १, कण्डिका १७) अर्थात् बालक घर से बाहर चार मास तक ले जाना चाहिए। यहां उल्लेखनीय है कि देश भ्रमण कार्यक्रम हो तो १२ वें दिन से पूर्व निष्क्रमण होना चाहिए। निष्क्रमण का दूसरे शब्दों में अर्थ है सूर्य दर्शन जिसे कुल्लुवी में 'धूपा रिहाणा' कहते हैं। इस संस्कार का उद्देश्य ही ज्योति का दर्शन करना है पर इतना ध्यान अवश्य रहे कि उस की आंखे ज्योति न चुंधया जायें, नहीं तो बालक भैंगा भी हो सकता है। यह मात्र पैतृक विश्वास हैयह कहां तक ठीक है या नहीं है कह नहीं सकते। इसी संस्कार से जन्म का सूतक समाप्त होगा।

सभी लोग इस में भाग लेंगे जब कि इस से पूर्व उसके यहां खान-पान व उठना बैठना बन्द होता हैं। शिशु का जन्म लग्न ग्रह भाव, ग्रह, द्वेष आदि सब 'ज्योतिसार' से देखा जाता है। किसी सम्बन्धी को बालक के द्वेष भाव से दवाते हों, तो उसी दिन ग्रह द्वेष भाव शमन हेतु उस शिशु के लिए दान देते हैं। जिसे 'लाग-भाग' कहा जाता है। सूर्य दर्शन समय गृह के अन्दर नवग्रह पूजन, गणपति, सप्तर्षि आदि सभी देवताओं का कुलज सहित आह्वान और स्थापना की जाती है फिर आंगन में आकर सूर्य को अर्घ्य दिया जाता है। शिशु का पिता एक बड़े आकार की रोटी (रोट) जिस के मध्य भाग को खाली कर दिया है एक तीर मारता है कन्या होने पर तीर नहीं मारा जाता। किसी स्त्री के इस से पूर्व शिशु मरता आया हो तो शिशु किसी साधु या नाथ (जाति विशेष) को बेचा जाता है तथा पुनः कुछ वस्त्र रुपये दे कर वापिस लिया जाता है। इस से उस की ग्रह ऋष्टा खत्म हो जाती है। यदि ऐसा न हुआ तो बालक को तुला में रख कर एक ओर अन्न रख कर उस अन्न को ब्राह्मणों को दिया जाता है। इसे तुला दान कहते हैं।

**नामकरण** : दूसरा प्रचलित एवं महत्वपूर्ण संस्कार नामकरण है। नामकरण कब होना चाहिए। यह शास्त्रीय विधि द्वारा निश्चित नहीं है। चरक लिखते हे—

["दशम्यां निश्चतीतायां ...... कुमारस्य पिता द्वे नाम्वी कारयेत् ।]

अर्थात् दस रात बीत जाने पर नाम रखें। इस के साथ आचार्य गंगा प्रसाद षोडश संस्कार विधि में लिखते हैं कि— "ग्यारहवें अथवा नियत दिन नामकरण न हो सके तो फिर किसी भी शुभ दिन नामकरण संस्कार कर लो।

(अ० ५/१६१ पृष्ठ)

कुल्लू में भी इसी पद्धति को अपनाया जाता है। जन्म के तीसरे मास की संक्रान्ति को ननिहाल वाले आकर नामकरण करते हैं। नामकरण दो विधि से होते हैं। एक शास्त्रीय विधि से निकाल वर्ण व लोक प्रचलित नाम। निष्क्रमण के दिन यदि योगी को बालक बेचा जाए तो कई बार वही साधु नामकरण कर देता परन्तु फिर भी नामकरण की औपचारिकता की जाती है। कई बार 'लाग-भाग' को भी नामकरण के दिन दिया जाता है।

**अन्न प्राशन** : अन्न प्राशन संस्कार के अन्तर्गत शिशु को किसी भोजन या पेय पदार्थ का शुभारम्भ कराना।

"षष्ठे मासेऽन्न प्राशनम् (पा० १/१६)

षठ मासं चैनमन्नमं प्राश्येल्लव् हितञ्च"

(सुश्रुत)

पास्कर गृह्यसूत्र व सुश्रुत के अनुसार अन्न प्राशन छठे महीने होना चाहिए। कुल्लुवी जन जीवन में यह संस्कार अल्प मात्रा में है किञ्चित ब्राह्मण जाति के लोग इस संस्कार को करते हैं। वैसे अन्न प्राशन किया जाता है शास्त्रीय एवं निश्चित समय पर नहीं किया जाता। यदि ध्यान से इसी कर्म का गूढ़ अवलोकन किया जाए तो 'वर्षगांठ' इसी कर्म का पर्याय शब्द है। जिस नियत तिथि को बालक का जन्म हुआ उसी तिथि को अगले वर्ष पूजन कर के कुल्लुवी प्रथाओं में मनाना तो है परन्तु इस कर्म की शुरूआत को अन्न प्राशन नहीं कहा जाता जबकि एक वर्ष बाद इस का नाम परिवर्तित हो कर जन्म दिन बन जाता है। कुल्लू में जन्म दिन मनाने की प्रथा है और लाल डोरी में कुशा और द्रुवा को पूजन करके एक गांठ डालने की परम्परा सर्वमान्य है।

**कर्णवेध संस्कार :** कर्णवेध संस्कार भी अन्न प्राशन की भान्ति विस्तृत रूप मे प्रचलित नहीं।

"रक्षा भूषण निमितं बालस्य कर्णो वियेते"

(सुश्रुत)

कर्णवेध का प्रयोजन रक्षा और आभूषण पहनना है। कुल्लू में कर्ण वेध कब करते है इस का कोई समय निश्चित नहीं, पर उल्लेखनीय है कि विवाह उत्सव हेतु कानों में कुण्डल डालने हेतु लोग तीन से पांच साल तक के बच्चे के कान बींध लेते हैं। इस का दूसरा कारण ग्रह शान्ति और रोगों का नाश बताया जाता है। कुल्लू में कान बींधने की प्रथा है पर इसे सांस्कारिक रूप से अथवा रक्षा व आभूषण निमित बींधा जाता है इस में एक देना मुश्किल लगता है। लोक दृष्टि से आभूषण का ही प्रतीक माना जाता है।

**चूड़ाकर्म संस्कार :** कुल्लुवी प्रचलित संस्कारों में चूड़ाकर्म भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसे मुंडन संस्कार भी कहते हैं।

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव जन्मतः।
प्रथमेडण्दे तृतीय वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥ (मनु)

चूड़ाकर्म जन्म के प्रथम वर्ष अथवा तृतीय वर्ष और कुलाचारानुसार पांचवे वर्ष भी हो सकता है।

मनु के नियम का यहां सम्पूर्ण पालन हुआ है। चूड़ा कर्म के विशेष रात्री सभी अनौपचारिक मण्डप पूजन होता है और रात्री चतुर्थ के व दिवस प्रथम प्रहर के अन्तर में बाल काट कर इष्ट या

कुलज के यहां चढ़ाये जाते हैं। इस संस्कार में समग्र कार्य मामा ही करता ह। कहते हैं उक्त संस्कार से पूर्व बालक की मृत्यु हो जाये तो उस का उद्धार नहीं। यह मात्र पारम्परिक किंवदन्ति है परन्तु लोक में आज भी अपूर्व विश्वसनीय है।

**उपनयन संस्कार :** इसे यज्ञोपवीत संस्कार भी कहते हैं।

"अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनरोत, गर्भाष्टिमे वा।
एकदश वर्ष राजन्यं, द्वादशवर्ष वैश्यम्" ॥

पारस्कर के मतानुसार उपनयन जन्म के ८ वें वर्ष में ब्राह्मण, ग्यारहवें सप्ताह में क्षत्रिय और १२ वें वर्ष में वैश्म का उपनयन करें।

मनु ने ब्राह्मण (१६) क्षत्रिय (२२) वैश्य (२४) का समय उपनयन उपयुक्य बताया है।

शतपथ ब्राह्मण में दुख के समय का उल्लेख हुआ है।

बसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् ग्रीष्मे राज्यं, शरदि वैश्यम् !

ब्राह्मण बसन्त में, क्षत्रिय ग्रीष्म में वैश्य शरद ऋतु में उपनयन करें।

उक्त संस्कार का प्रयोजन विद्यार्थी को शिक्षा ग्रहण करने योग्य बनाना, परन्तु कुल्लुवी जन जीवन में नहीं। कुछेक ब्राह्मण जातियां संस्कार कराते वैसे सर्वत्र विवाह संस्कार के दिन ही इस संस्कार का आयोजन होता है। शाम मण्डप पूजन कर के, कुलज को साक्षी मान कर शिष्य बाघ चर्म पहन कर गुरु को अष्टांश प्रमाण करता है। गुरु आशीर्वाद के शिष्य के दायें कन्धे से बायें बाहू के निचले भाग तक यज्ञोपवीत डाल देता है। गुरू मन्त्र, मंखला बंधन, शिखा धारण इसी विशेष दिन में होता है, पर आधुनिकता धीरे-धीरे पूर्व संस्कृति का ह्रास सा हो रहा है।

**विवाह संस्कार :** विवाह १६ संस्कारों में सशक्त एवं प्रमुख संस्कार है। इस संस्कार पर सृष्टि का कार्यक्रम आगे बढ़ता है। विद्या अध्ययोपरान्त, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सुश्रुत ने इस प्रकार कहा है—

"अथास्मै पंचविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत।"

अर्थात् पच्चीस वर्ष के युवा के साथ १६ वर्षीय कन्या का विवाह करें।

मनु ने आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है। ब्राह्म विवाह को श्रेष्ठ व राक्षस विवाह को निकृष्ट एवं जुगुप्सा योग्य बताया है।

ब्राह्म विवाह कुल्लू का अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय विवाह है। वर का पिता वधू पिता के घर जा कर विवाह योग की बात करता है। यदि शास्त्रीय विधि एवं ग्रह, कुण्डली मिलान आदि सब ठीक हुए तो विवाह निश्चित किया जाता है। मनु ने विवाह हेतु कुल, धन, ऐश्वर्य योग्यता, परिवार विस्तार आदि कई लक्षणों को बताया है। निर्धारित तिथि को वर सेहरा लगा कर पालकी में चढ़कर (कई बार पैदल और बिना सेहरे) वधू के घर जाता है। रात यज्ञोपवीत यदि पूर्व न हुआ हो पूजन, मुख दृष्टि और लग्न तथा वधू के माता पिता कन्या दान करते है। सान्ध्य समय वर वधू की घर को यात्रा प्रारम्भ होती है। वर की माता वधू गृह प्रवेश कराती है। पूर्व रात को 'जागरा' उत्तर दिवस को घाम कहा जाता है। घाम की प्रातः वर मांग भरता है और वधू अपना सुहाग (सेहरा आदि) कुलज को अर्पित करती है और अपने सुहाग की क्षा हेतु प्रार्थना करती है।

इस के अतिरिक्त मन्दिर विवाह, जिस में शास्त्रीय विधि पूर्ण मिलान के उपरान्त कन्या के माता पिता तथा वर के माता के समक्ष देव की साक्षी मान कर वर-वधू मालाओं का आदान प्रदान करते हैं। साथ ही प्रेम-विवाह भी प्रचलित हैं। प्रेम विवाह ब्राह्म विवाह की तरह सफल नहीं। राक्षस विवाह में कन्या को बरबस उठा कर उसे विवाह के योग्य बना देना है। विवाह आत्माओं का मेल है, इसे मानवीय शक्ति से नहीं जोड़ा जा सकता/भावनाओं का मेल आत्माओं के मेल पृथक एवं असत्य है जो चिरस्थाई नहीं. वह मात्र वासना एवं काम के पर्याय शब्द हैं।

**अन्त्येष्टि :** यह मानव से जुड़ा अन्तिम संस्कार है इसे दाह कर्म संस्कार भी कहते हैं। रात के साथ दिन दुःख के साथ सुख, निराशा के साथ, आशा और जन्म के साथ मरण का अटूट सम्बन्ध है। मृत्योपरान्त मनुष्य का गमन कहां, किस ओर होता है यह एक अछूता सत्य है जिसे कोई नहीं जान सका। मरण समय में मनुष्य को खाट आदि से उतार कर जमीन पर आराम से लेटाया जाता है। मरण समय में सभी सम्बन्धी, पुत्रादि आसन मृत्यु पर बैठे मनुष्य के मुंह में गंगाजलादि की बूंदें देते हैं और सोना, चान्दी, हीरे मोती आदि की एक बनी पुड़िया जिसे पंचरत्न कहा जाता है, मुंह में डाली जाती है। फिर उसके मुंह, आंखों को बन्द किया जाता है।

शव के पास दीपक जलाया जाता है। शव स्नानोपरान्त १६ शृंगार आदि किया जाता है। स्त्री हो तो विवाहोत्सव की तरह उसे सजाया जाता है और सेहरा आदि भी उस के साथ ले जाया

जाता है । शव को श्मशान ले जाया जाता है। रास्ते में पिण्ड भरे जाते हैं । कुल्लवी परम्परा अनुसार शव का सिर आधे रास्ते तक घर की ओर और तदन्तर श्मशान की ओर किया जाता है। क्रिया कर्मी शव को चिता पर चढ़ाने के बाद परिक्रमा कर के अग्नि दे देता है । कपोल मोचन तक सभी वहीं बैठते हैं तदन्तर चार-पांच आदमी अस्थि लाने हेतु वहीं बैठते हैं । कुल्लुवी शव यात्रा में ढोल, नगाड़े, शहनाई और विशेष रूप से शंख आदि बजाये जाते हैं । गृह में रखे दीपक के पास दस दिन गरूड़ पुराण का पाठ होता है और ११ वें दिन सभी लोग वहां आकर शोका-कुल परिवार को सान्त्वना देते हैं । भोजन करने के बाद सभी घर चले जाते हैं । मातम तो महीनों तक चलता रहता है । उस की अस्थि को क्रिया कर्मी हरिद्वार गंगा प्रवाह के लिए ले जाता है। इसके उपरान्त कई कर्म किए जाते हैं जैसे एकादशाह, दशमात्र, सपिण्ड कर्म मासिक, वार्षिक कर्म ये सब श्राद्ध कर्म के अन्तर्गत आते हैं कुछ लोग अस्थि संचयन को भी श्राद्ध पद्धति में लेते हैं ।

गीता में कहा हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मम नुस्मरन्
य: प्रयाति त्यजन् देहं सयाति परमां गतिम्

अर्थात् यदि व्यक्ति मरण समय भी भगवान के ध्यान में लीन हो सके तो भी वह श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है । वैसे सम्पूर्ण संस्कार मोक्ष प्राप्ति निमित ही होते हैं ।

नारदाश्रम निणु,
डा० क्याह, तह० जिला
कुल्लु (हि० प्र०)

# हिमाचल प्रदेश में नाथ सम्प्रदाय

संसार चन्द 'प्रभाकर'

हिमाचल प्रदेश को आदिकाल से ही देवभूमि की संज्ञा दी जाती रही है और वास्तव में आर्य लोगों की मूल संस्कृति के स्रोत इसी प्रदेश की घाटियों में निहित हैं। शताब्दियों की लम्बी दरार भी इस प्रदेश की संस्कृति को अपने में नहीं समेट पाई, इसका कारण इस प्रदेश की अपनी भौगोलिक परिस्थितयां हैं। इतिहास-प्रसिद्ध लुटेरे सुल्तान महमूद गजनबी की विध्वंसकारी दृष्टि कांगड़ा के मन्दिर से परे नहीं लांघ पाई। इस प्रदेश का प्रत्येक गांव और उसमें बना मन्दिर अपना विशेष इतिहास लिए अपनी संस्कृति की युगों पुरानी गाथा को अपने आंचल में संजोए अब भी सच्ची जानकारी देने को उद्यत खड़ा है। पाण्डवों ने अपना वनवास काल इसी प्रदेश के आंचल में बिताया जिस के चिन्ह गाथाओं के रूप में अब भी इस प्रदेश में विद्यमान हैं। बैजनाथ का मन्दिर, मलेसर महादेव, रेणुका झील, ज्वाला मुखी मन्दिर और बाबा दियोट सिद्ध तथा बाबा सिब्बो स्थान कितने ही ऐसे स्थान हैं जिनमें हमारी पौराणिक गाथाएं निहित हैं। इन मन्दिरों, मठों से यह सिद्ध होता है कि भारत भूभाग के प्रत्येक तपस्वी ने अपना थोड़ा बहुत समय हिमाचल के आंचल में बिताया। फतेहपुर ठाकरान नृसिंह का इतिहास भी कम पुराना नहीं। इस मन्दिर से भगवान विष्णु और भगवान बुद्ध कि मूर्तियों का मिलना यह सिद्ध करता है कि वैष्णव सम्प्रदाय के उपरान्त यहां बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ होगा और इस भूभाग में बौद्ध विहार भी होंगे। बाबा बालकनाथ का स्थान यह सिद्ध करता है कि सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय के लोग भी इस प्रदेश में अपनी योग सिद्धि प्राप्त करने हेतु आए। मुस्लिम काल में कुछ और जातियां भी अपने संरक्षण हेतु इस प्रदेश में आकर बस गई पर इस प्रदेश की संस्कृति अभी तक उसी अवस्था में है जैसे यह पहले थी। इस प्रदेश में रहने वाले लोगों के धार्मिक और सामाजिक संस्कार उनकी देवताओं के प्रति आस्था, प्रत्येक ऋतु के त्योहार, मेले, गाथाएं, ग्राम्य गीत, गावों में बनी देहरियां, मन्दिर, मठ, धूने

और हवन यज्ञ करने की क्रिया तथा धार्मिक वृक्षों के प्रति मोह, जल, पवन, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के प्रति आस्था और साधू-पूजा आर्य जाति की सभ्यता के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

इस प्रदेश में बसने वाली जातियां भारत देश में विभिन्न समय पर चलने वाली भक्तियों और सम्प्रदायों की आस्था को किसी न किसी ढंग से अपने में समेटे हैं। इन जातियों उपजातियों के अपने गीत तथा अपनी ही गाथाएं हैं जिनको इन जातियों के लोग दूसरे लोगों को सुना कर अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। डूमणे जाति के लोग चैत्र मास में अपने मधुर कंठ से नए वर्ष का नाम गाते हैं जिसमें महाराज विक्रमादित्य का इतिहास निहित है। विक्रमी सम्वत को प्रत्येक वर्ष दोहराना और उसके शुभागमन के गीत इस बात का प्रमाण है कि महाराजा विक्रमादित्य का शासन देवता शासन था। इसी तरह नाथ जाति के लोग राजा भर्तृहरी और गोपी चन्द की गाथाएं लोगों को सुना कर अपनी आजीविका उपार्जन करते हैं। राजा भर्तृहरी और राजा गोपी चन्द की गाथाओं से यह सिद्ध होता है कि राजा भर्तृहरी और राजा गोपी चन्द भी हिमाचल प्रदेश में आए और हिमाचल प्रदेश के अनेकों लोग उनके शिष्य बन गए और वे लोग नाथ कहलाए जिनकी उपजाति को आजकल जोगी (योगी) कहा जाता है। ये लोग बड़े करामाति थे। भगवें वस्त्र पहनते थे, अपने कानों में लकड़ी की मुन्दें पहन कर चलते थे। धीरे धीरे यह लोग गृहस्थी बन गए और विभिन्न गांवों में रहने लगे। ये लोग अपनी करामात के बल से ही समाज में अपना स्थान बनाए हुए थे। तभी तो हिमाचल प्रदेश में अभी भी झाड़, फूंक, पातर-झोला, चूनी प्लीता आदि का इलाज भी किया जाता है। डाक्टर के इलाज के साथ-साथ लोग अपने देवी देवताओं को भी प्रसन्न करते हैं और पातर झोला का इलाज भी करते हैं। इन नाथ सम्प्रदाय के लोगों ने लोगों के हृदय पर एक ऐसी छाप छोड़ी है जो अमिट बन चुकी है। राजा भर्तृहरी के साथ साथ राजा गोपी चन्द की गाथा जुड़ी हुई है। इन दोनों लोक गाथाओं से यह विदित है कि राजा गोपी चन्द भी सन्यास लेने के उपरान्त इस देश में भ्रमणार्थ या तप करने हेतु आए तभी तो नाथ जाति के लोग राजा गोपी चन्द की लोक कथा और लोक गाथा को कंठस्थ किए अभी तक भी हिमाचल प्रदेश के विभिन्न भागों में गाकर अपनी आजीविका चलाते हैं। राजा गोपी चन्द को यह लोग राजा भर्तृहरी का भांजा बतलाते हैं। इनकी कथा के अनुसार राजा भर्तरी उज्जैन नगरी के राजा विक्रका दित्य के बड़े भाई थे जिन्होंने वैराग लेने के उपरान्त अपना राज्य अपने छोटे भाई विक्रादित्य को सौंप दिया था। यही राजा भर्तृहरी राजा गोपी चन्द के मामा थे और राजा गोपी चन्द धारा नगरी के युवराज थे। गोपी चन्द की माता नैणावन्ती की दो सन्तानें गोपी चन्द और चम्पा (चन्द्रावली) थीं। राजा गोपी चन्द की पत्नी का नाम लोक गाथा के अनुसार कृष्णावन्ती बतलाया जाता है। गोपी चन्द की बहन चम्पा (चन्द्रावली) गड़बंगाल में ब्याही गई थी। गोपी चन्द के जन्म पर ज्योतिषियों ने उनकी माता नैणावन्ती को बतलाया था कि बालक गोपी चन्न की आयु कुल बारह वर्ष ही होगी पर यदि गोपी चन्द

गृहस्थ छोड़ कर वैराग ले लेगा तो अल्प मृत्यु से बच जाएगा और सदा जीवित रहेगा। इस बात को सुन कर राजा गोपी चन्द की माता व्याकुल होकर गुरू गोरख नाथ के पास गई थीं और उनसे बारह वर्ष के उपरान्त राजा गोपी चन्द को उनका शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया था और जब राजा गोपी चन्द की आयु बारह वर्ष की हुई थी तो उनकी माता नैणावन्ती ने स्वयं ही उन्हें वैरागी बनने के आदेश दे दिये थे। जब राजा गोपी चन्द अपने गुरु गोरख नाथ से शिक्षा दिक्षा लेकर अपनी माता के पास पुनः योगी बन कर आए तो नैणावन्ती ने अपने बेटे को सन्यासी बने हुए देख कर कहा था, 'बेटा भिक्षा के लिए तू सब स्थानों पर जाना पर गड़ बगाल में कदम न रखना क्योंकि वहां तेरी बहन तेरा यह रूप देख कर शरीर छोड़ देगी।' परन्तु घटना इसी प्रकार घटी राजा गोपी चन्द अपने गुरू गोरख नाथ के साथ जब गढ़ बंगोल पहुंचे तो उनको उनके गुरू ने उन्हें राज महलों से भिक्षा लाने को कहा। राजा गोपी चन्द जो वैरागी बन चुके थे अपने गुरू के आदेश से राज महलों के अन्दर गए और वहां 'अलख' जगाई। राजमहलों के अन्दर किसी साधू का प्रवेश जानकर रानी चन्द्रावली ने अपनी दासी के साथ एक थाल में हीरे मोती डाल कर साधू को भिक्षा देने को कहा। रानी चन्द्रावली की आज्ञा से दासी थाल में भिक्षा डाल कर साधू के पास आई तो उस ने कहा, 'हम रानी के हाथ से आटे की भिक्षा लेंगे, ऐसी हमारे गुरू की आज्ञा है' और दूसरे ही क्षण उन्होंने अपना यह वाक्य दासी का नाम लेकर दोहराया। दासी अपना नाम साधू के मुख से सुन कर अचम्भित रह गई उस ने कुछ क्षण रुक कर साधू की ओर देखा और महल के अन्दर प्रवेश कर गई। दासी ने अब यह सारी घटना रानी से कह सुनाई। रानी स्वयं एक थाल में आटा डाल कर गोपी चन्द के पास आई और जब उसने उसके मस्तक की ओर देखा तो गोपी चन्द के मस्तक पद्म चिन्ह को पहचान कर भर्राई हुई आवाज में बोली 'भैय्या! आप ने यह क्या किया?' गोपी चन्द ने चन्द्रावली की लाई हुई भिक्षा अपनी झोली में डाल ली और एक बार अपनी बहन की ओर देखा तथा शीघ्र लौट कर आने का बहाना बनाकर के राज महल से बाहर चले गए। ज्यों ही गोपी चन्द जो वैराग भेष में थे महलों से बाहर आए त्यों ही रानी चन्द्रावली ने महलों से छलांग दे दी। गाथा के अनुसार जब गुरू गोरख नाथ को इस घटना का पता चला तो उन्हों ने अपनी करामात से चन्द्रावली को जीवित कर लिया और गोपी चन्द को यह आशीर्वाद दिया की जब तक ब्रह्मांड है तब तक गोपी चन्द अमर रहें क्यों कि गोपी चन्द वैराग की कठिन परीक्षा में सफल उतरे थे। इस घटना के उपरान्त गुरू गोरख नाथ अपने सभी शिष्यों के साथ भारत भ्रमण करते हुए हिमाचल प्रदेश में आए और इस प्रदेश में नाथ सम्प्रदाए का प्रादुर्भाव हुआ। तभी से राजा भर्तृहरि और राजा गोपी चन्द की

लोक गाथाएं इस प्रदेश में गाई जाती हैं। राजा गोपी चन्द की लोक गाथा जो कांगड़ा जनपद में गाई जाती हैं इस प्रकार है :—

हत्थ में गड़वा गंगा जल पाणी-गंगा जल पाणी
गोपी चन्द न्हौणों जी जाणा, माता मेरी

न्हौई रे धोई राजा घरे जो आया-मैहले जो आया।
माता ने शब्द सुणामा गोपी चन्दा !

जोगी होई जायां तू सन्यासी होई जायां
अमर रहे तेरी काया, गोपी चन्द !

जन्मां तें विष क्यों न दियो रे
हुण मिंजो जोग बतावें, माता मेरी
तीन सौ सट्ठ राणी जे मेरी
सवा लक्ख मेरी कन्या, माता मेरी

उन का ब्याह मैं इक्क ना कियो रे
हुण मिंजो जोग बतावे, माता मेरी

राजे थे तां राणियां थियां
हुण सब्वो जोगणी होईयां, राजा गोपी चन्द

राज कियो तेरे दादा पिता ने
आखिर हुए भस्म ढेरी गोपी चन्द!

राज कियो तेरे नाना जी ने
आखिर हुए भस्म ढेरी, गोपी चन्द!

जोगी होई जायां बेटा सन्यासी होई जायां
अमर रहे तेरी काया, गोपी चन्द!

इसके उपरान्त राजा गोपी चन्द अपनी माता की बात को मान कर भगवें कपड़े पहन लेता है और सर को मुडंवा कर सन्यासी बन जाता है। तथा सब से पहले वह अपनी राणी कृष्णा वन्ती से भिक्षा मांगता है जो लोक गाथा में इस प्रकार है :

पहली रे भिच्छिया राणिया वेड़ें, कोई कृष्णा दे वेड़ें
दियो माता मेरी भिच्छिया, भागां वाली!
कोहड़ी होई जायां राजा कुष्टी होई जायां
राणी जो माता बुलावें, गोपी चन्द!

राजे थे तां राणी वी थी तूं
हुण तां जोगणा होई, कृष्णा वन्ती!

इसके उपरान्त राजा गोपी चन्द अपनी माता के पास भिक्षा लेने जाते हैं।

दूजी रे भिच्छिया कोई माता दे वेड़ें-माता दे वेड़ें
दियो माता मेरी भिच्छिया, भागां वाली!

जब राजा गोपी चन्द अपनी माता से भिक्षा लेने जाते है तो राणी नैंणावंती का हृदय तड़प उठता है। मां की ममता जाग उठती है और वह कहती है :

दक्खण जायां बेटा पच्छम जायां
गौढ़ बंगाल न जायां, गोपी चन्द
ओथूं तेरी अम्मा दी जाई-भैणा जे तेरी
खाई पच्छाड़ मरेगी, गोपी चन्द !
दक्खण दिखिया मैं पच्छम दिखिया
गौढ़ बंगाल ना दिखिया, माता मेरी!

इस के उपरान्त गोपी चन्द अपने गुरू गोरख नाथ के आदेश से गढ़ बंगाल में जाकर अपनी बहन चन्द्रावली (चम्पा) से भिक्षा लेने उनके राज महल में जाता है।

तिजी ऐ भिच्छिया कोई भैणा दे बेड़े, कोई चम्पा दे बेड़े
दियो भैणा मेरी भिच्छया, भागां वाली!

थाल जे भरिया कोई गोलो लई आई, गोलो लई आई
लियो जोगी पुत्र भिच्छिया, भागां वाली

गोलो ते भिच्छिया असां नईयों लेणी-असां नईयों लेणी
भैणा ते भिच्छिया मैं लैणी, गोली सुण!

फिरदे पैरें गोली जे गई ऐ-गोली जे गई गई ऐ
बोर खड़ा बूए बार, राणी मेरी!

तत्ता रे तत्ता मैं लाआ तपावा
जीव्हां मैं तेरिया दाग पुआवां
वीरे जो जोगी वतावें, गोली मेरी!'

'थाल जे भरिया चम्पा लई आई-चम्पा लई आई
लियो जोगी पुत्र भिच्छिया, भागां वाली!

भिक्षा देने के साथ साथ रानी चन्द्रावती गोपी चन्द को पहचानने हेतु प्रश्न करती है।

क्या कुछ नां साड़े बापू दा कहिए
क्या कुछ नां साड़ी अम्मां जोगी पुत्र!

पद्म सेन पिता जी जो कहिए
नैणा वन्ती साड़ी माता, राणी सुण

'क्या कुछ नां साड़ी भाबो दा कहिए
क्या कुछ नां साड़े वीरे, जोगी पुत्र!'

कृष्णा वन्ती तेरी भावो जो कहिए
गोपी चन्द तेरा वीर, भैणा मेरी!

क्या कुछ साड़े पिता जो ने दित्ता-पिता जी ने दित्ता
क्या कुछ दित्ता माता, जोगी पुत्र!
मण्न हाथी साड़े बाबे ने दित्ता, पिता ने दित्ता
गोलो पाई कन्या दान, माता मेरी!'

थाल जो भरिया कोई सुच्चे न मोती-सुच्चे न मोती
लियो गोपी चन्द भिच्छिया बीरा मेरे!

सुचियां दी भिच्छिया असां नईयों लैणी-असां नईयों लैणी
तेरे बीरे जो भुक्खां न लगियां भैणा मेरी!

रोटियां लेणां चम्पा जे गई ए-भैणा जो गई ए
बीर गया बूए बाहर, गोपी चन्द!
रोट्यिां लई के चम्पा जे आई-चम्पा जे आई
बीर नजरी नईयों आया, गोपी चन्द!

मैहलां जो चढ़ी के छाल़ जे मारी-छाल़ जे मारी
बीरे तो लक्ख नीं होई चम्पा राणी!

इसके उपरान्त जब गुरू गोरख नाथ को इस घटना का पता चलता है तो वह अपनी करामात से चम्पा को जीवित कर लेते हैं और गोपी चन्द को अमरता का आशीर्वाद देकर चम्पा को भी जोगण बना लेते हैं तथा अपने शिष्यों सहित भारत भ्रमण पर निकल पड़ते हैं। इसी प्रकार गुरू गोरख नाथ के शिष्यों में बढ़ौतरी होती है और वह अपने शिष्यों सहित हिमाचल प्रदेश में आते हैं। बाबा बालक नाथ, सिद्ध बाबा सिब्बो से मिलते हैं। इसी प्रकार हिमाचल प्रदेश में नाथ सम्प्रदाय का प्रचार एवं प्रसार होता है। हिमाचल प्रदेश के बहुत से लोग उनके शिष्य बन जाते हैं। तभी से हिमाचल प्रदेश में नाथ सम्प्रदाय का प्राभाव माना जाता है।

गांव व डा० फतेहपुर
तैं० नूरपुर, (कांगड़ा) हि० प्र०

अष्टधातु से निर्मित शिव-पार्वती की प्रतिमाएं
निमार्णकाल : 18 वीं शताब्दी, सुजानपुर टीहरा

सचिव, हिमाचल कला-संस्कृति और भाषा अकादमी, शिमला द्वारा प्रकाशित तथा
**जोशी मुद्रणालय, लाजपतराय मार्ग, शिमला 171 001** द्वारा मुद्रित।